सहजानंद शास्त्रमाला

नियमसार प्रवचन

चतुर्थ भाग

(व्यवहार चारित्र अधिकार)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'नियमसार प्रवचन भाग 4'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें गाथा 56 से गाथा 66 तक के प्रवचन प्रस्तुत हैं ।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री **सुरेशजी पांड्या**, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 1100/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गाँधीनगर, इन्दौर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्री सुरेशजी पांड्या**, **तिलकनगर**, **इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी‘‘सहजानन्द’’ महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, ’सहजानन्द’ रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

Contents

प्रकाशकीय 2

आत्मकीर्तन 3

आत्म रमण 3

गाथा 56 5

गाथा 57 18

गाथा 58 22

गाथा 59 27

गाथा 60 32

गाथा 61 40

गाथा 62 52

गाथा 63 59

गाथा 64 88

गाथा 65 96

गाथा 66 103

नियमसार प्रवचन चतुर्थ भाग

प्रक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री 105 क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी 'श्रीमत्सहजानन्द' महाराज

गाथा 56

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणऊण जीवाणं।

तस्मारंभणियत्तणपरिणामो होइ पढमबदं।।56।।

शुद्धभावाधिकार के बाद व्यवहारचारित्राधिकार कहने का वर्तमान कारण—इस गाथा से पहिले शुद्धभाव का अधिकार 18 गाथावों में किया गया था। उसमें जीव का सहज शुद्धपरिणाम क्या है? इस सम्बन्ध में बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। और यह शिक्षा दी गयी है कि हे भव्य जीवो ! यदि संसार के संकटों से सदा के लिए छुटकारा चाहते हो तो निज इस शुद्ध सहजभावरूप अपने आपकी प्रतीति करो। इस ही चैतन्यस्वभाव में रुचि करो—इस ही का परिज्ञान करो, इस ही में रमण करो और इस ही में उपयोग का प्रतपन करो। यह बात पूर्णरूप से युक्त है, किन्तु वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह बहुत कम सम्भव पाया जाता है कि ऐसे शुद्धभाव में ही यह मग्न रहा करे। कदाचित् दृष्टि पहुंचती है और प्रतीति निरन्तर रहा करती है, किन्तु उस सहज शुद्ध भाव में मग्न हो सके, ऐसी स्थिरता इस जीव में नहीं है, तब ऐसी स्थिति में मेरा उपयोग कुछ बाहरी बातों में भी लग जाता है; साथ ही जब शरीर का सम्बन्ध है तब शारीरिक बाधाए जैसे भूख प्यास आदिक की बाधाए भी हो जाया करती हैं उस स्थिति में सभी वातावरणों से बचना और शारीरिक बाधावों का भी यथा समय शमन करना यह आवश्यक हो जाता है। तब किस प्रकार की परिणति इस ज्ञानी संत को करना चाहिए? उस समस्त प्रवृत्तियों का वर्णन इस व्यवहार चारित्र अधिकार में आ रहा है। इस ही अधिकार की यह प्रथम गाथा है।

तेरह प्रकार का चारित्र—इस अधिकार में अहिंसामहाव्रत, सत्यमहाव्रत, अचौर्यमहाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत और परिग्रहत्याग महाव्रत—इन महाव्रतों का वर्णन आयेगा। इसके बाद ईर्यासमिति, भाषासमिति, एष्णासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और व्युत्सर्गसमिति—इन 5 समितियों का वर्णन होगा। इसके पश्चात् कायगुप्ति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति इनका वर्णन होगा। यह 13 प्रकार का चारित्र कहलाता है—5 महाव्रत, 5 समिति और तीन गुप्ति। जैसे कोई लोग कहते हैं कि हम तेरापंथी हैं—उस तेरापंथी का अर्थ लोग दो तरह से समझते हैं कि तेरह प्रकार का चारित्र जिस पथ में बताया गया है उस पंथ के हम मानने वाले हैं। दूसरा अर्थ यह करते हैं कि हे प्रभु, हे अरहंत देव ! जो तेरा पंथ था वही मेरा पंथ है। तो तेरे पंथ को मानने वाले हम हैं इसलिए तेरापंथी हैं।

चारित्र द्वारा साध्य व चारित्र के साधक परमेष्ठी—उक्त तेरह प्रकार के चारित्रों का विधिवत् पालन करने में निश्चयचारित्र का स्पर्श बनाए रहने में अंत में जो फल होता है वह फल है कर्मों का क्षय होना और अरहंत अवस्था प्रकट होना। इसके पश्चात् सिद्ध अवस्था प्रकट होती है। इन 13 प्रकार के चारित्रों के साधक आचार्य, उपाध्याय और साधु होते हैं। यों साधक और साध्य का स्वरूप बताने के लिए पंचपरमेष्ठियों का इसके पश्चात् वर्णन होगा। इस तरह इस व्यवहारचारित्र अधिकार में संक्षिप्त और मूल साधनों का वर्णन करने वाला स्पष्ट साफ सह व्यवहारचारित्र आयेगा।

तेरह प्रकार के चारित्र के साधक—इन 13 प्रकार के चारित्रों में प्रथम नाम है अहिंसा महाव्रत का। इस गाथा में अहिंसाव्रत का स्वरूप बताया गया है। इस अधिकार में साधुवों के व्रतों का वर्णन है क्योंकि नियमसार के साक्षात् साधक साधु पुरुष ही हो सकते हैं। साधु किसे कहते हैं जिसको केवल सहजस्वभाव व्यक्ति सिद्ध करने का ही ध्यान हो और कोई अलाबला जिसके उपयोग में नहीं है उसे कहते हैं साधु। हम लोग साधुवों के उपासक कहलाते हैं। तो हमें साधुवों में मोक्षमार्ग का आदर्श मिला तब तो हम उपासना करते हैं। साधुजन केवल ज्ञान ध्यान और तपस्या में ही रहा करते हैं, तीन के सिवाय चौथा काम साधु का है ही नहीं। साधु ज्ञान के काम में लगा हो, ध्यान के काम में लगा हो या तपश्चरण में होगा, इनके अतिरिक्त सामाजिक उत्सव अथवा अन्य कोई मकान बनवाने का प्रसंग आये या यहाँ वहाँ के आहार की कथाएं गप्पसप्प ये सब काम लौकिकजनों के हैं। साधु तो आदर्श होते हैं। हम क्यों साधु के दर्शन करते हैं? उसके दर्शन करके हमें अपना आदर्श मिलता है कि मुझे क्या करना है?

दर्शनीय साधक—दर्शन करने का प्रयोजन यह है कि मन में यह आये कि मुझे ऐसा बनना है। जिसके प्रति यह भाव देखकर जगे कि मुझे यों बनना है वही दर्शन के योग्य है। अरहंत की मुद्रा को देखकर यों परिणाम होना चाहिए कि यों बने बिना संकटों से छुटकारा न होगा। साधु मुद्रा के दर्शन करके चित्त में यह परिणाम आना चाहिए कि संकटों से मुक्त होने के लिए ऐसा ही बनना होगा। ऐसे साधु का इस व्यवहारचारित्र में वर्णन चलेगा कि साधु किस-किस प्रकार अपनी चर्या रखते हैं? उनका प्रथम चारित्र हैं अहिंसाव्रत।

अहिंसा व्रत का लक्षण—अहिंसाव्रत का लक्षण इस गाथा में यों बताया है—कुल, योनि , जीवस्थान, मार्गणास्थान इनमें जीवों को जानकर उसके आरम्भ की निवृत्ति का परिणाम बनाना सो अहिंसामहाव्रत है। यह जीवस्थान चर्चा पढ़ना चारित्र के लिए बढ़ने के लिए भी कारण है। जब तक यह विदित न होगा कि जीव इस-इस प्रकार इन-इन स्थानों में हुआ करता है तब तक हिंसा के आरम्भ से निवृत्ति कैसे कर सकते हैं?

अजानकार के बंध के विषय में चर्चा—कोई पुरुष यों शंका करते हैं कि जो जाने कि जल में जीव है वह बिना छना जल पीवे तो उसके दोष लगे। जिसको पता ही नहीं है कि जल में जीव हैं उसको क्यों दोष लगे? जो ज्ञानी है, जानता है कि हिंसा में ये दोष हुआ करते हैं उससे हिंसा बने तब उसको दोष लगेगा। जो समझता ही नहीं कि हिंसा में दोष क्या है, सीधा जानता है कि पेट भरना है सो कार्य करता है उसे क्यों दोष लगेगा? किन्तु ऐसी शंका करना युक्त नहीं है। अच्छा बतावो ज्ञान है यह दोष की बात है या ज्ञान नहीं है यह दोष की बात है? अरे अज्ञान सबसे बड़ा दोष है? अज्ञानी जीव चाहे कुछ भी न कर रहा हो, आलस्य में पड़ा हो तो भी अज्ञान के कारण निरन्तर उसके इतना बंध है जितना कि ज्ञानी जीव को नहीं हो पाता।

अजानकारी में बन्ध विशेष पर उदाहरण—एक उदाहरण लीजिए। आग की जलती हुई डली आगे पड़ी हुई हो और उसे जान रहे हों कि यह आग की डली पड़ी है और किसी कारण उस आग पर से कूदकर ही जाना पड़े अथवा कोई धक्का लगा दें और आग पर कूदकर ही जाना पड़े तो उसे जब यह मालूम है कि यह आग पड़ी है तो उस पर बहुत जल्दी पैर धरकर निकल जावोगे, कम जलोगे और पीठ पीछे ही आग पड़ी है तथा मुझे पता नहीं है कि पीछे आग की डली पड़ी है और कदाचित् पैर रख दूं तो दृढ़ता से पैर रक्खूगा तो अधिक जल जाऊंगा। अब यह बतलावो कि जानी हुई वृत्ति में कम जलेंगे कि बिना जाने की वृत्ति में कम जलेंगे? उत्तर होगा कि बिना जाने हुए आग में पैर रखने से ज्यादा जलेंगे।

कितने ही लोग कहते हैं कि जो ज्यादा जान जायेगा उससे कोई त्रुटि होगी, गल्ती होगी तो बड़ा पाप लगेगा, जो नहीं जानता है उसको किसमें पाप? किन्तु यह जानो कि जानने वाला पुरुष त्रुटि भी करेगा तो अन्तरङ्ग में हटता हुआ त्रुटि करेगा, लगता हुआ न करेगा, किन्तु अज्ञानीजन लगते हुए भी त्रुटि करेंगे।

व्यवहारचारित्र के वर्णन का प्रयोजन—खैर, प्रकृत बात इतनी है कि सर्वप्रथम जीव के रहने का स्थान जानना अत्यन्त आवश्यक है और इस समय में शुद्धभावाधिकार में ही कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तो केवल नाम लेकर बताया है और निषेधरूप से बताया है कि कुल, योनि , जीवस्थान, मार्गणास्थान ये जीव में नहीं हैं, जीव से ये परे हैं। वहाँ प्रयोजन जीव के शुद्ध सहजस्वभाव को बताने का था। यहाँ प्रयोजन व्यवहार वर्णन का है। यह वर्णन इसलिए किया जा रहा है कि यह पुरुष संसारी जीव कुल में मायने देह में, योनि में अर्थात् उत्पत्तिस्थान में रहा करता है और जीव के स्थान हैं, उनमें मार्गणा के स्थान हैं, उनमें रहा करता है—ऐसा जानकर उनको बचाने का यत्न करें, उनकी हिंसादिक आरम्भों को मत करें। जो इस जीव को जानकर उनके आरम्भ से हटने का परिणाम है, उसको अहिंसाव्रत कहते हैं।

संसारी जीवों का कुलों में आवास—कुल मायने देहों के प्रकार। मनुष्य कितने प्रकार के हैं? देखते जाइए—बङ्गाली, मद्रासी, पञ्जाबी, मध्यप्रदेशी, इंग्लैंड के, अमेरिका के, चीन के, रूस के ये सब न्यारे-न्यारे हैं। सूक्ष्म रूप से देखो तो एक ही जिले के मनुष्यों की शकलें अनेक प्रकार की हैं। कैसी यह प्राकृतिकता है अर्थात् कैसी यह नामकर्म की विचित्रता है कि यह तीन अंगुल लम्बी नाक सब मनुष्य के मुख पर धरी है, मगर किसी की नाक से किसी की नाक मिलती नहीं है। मनुष्य का परिचय पाने के लिए यह नाक की बनावट ज्यादा मदद देती है। यह बाबूजी हैं, यह लाला जी हैं, यह सेठ जी हैं, यह अमुक चन्द हैं। नाक इस शरीर के परिचय में बहुत मदद देती है। यों ही प्रत्येक अंग की सीमित जातियों में जो समता के प्रकार हैं, उनका ही नाम कुल है, उन कुलों में जीव रहता है।

योनिस्थानों में जीवों का आवास—उत्पत्तिस्थान को योनि कहते हैं। जैसे वनस्पतियां जिस दाने से उत्पन्न हुआ करती हैं और जिस शीतल वातावरण और गरम वातावरण को लेकर वनस्पतियां अंकुरा दिया करती हैं, उन सबका नाम है योनिस्थान। मनुष्य के योनिस्थान, पशुओं के योनिस्थान, कीड़ा-मकोड़ा के योनिस्थान, देव और नारकियों के योनिस्थान, नाना प्रकार के योनिस्थान हैं उनको जानो। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में एक भक्ष्य पदार्थ की सीमा बनायी गई है। बरसात के दिनों में चार रात का बसा हुआ आटा नहीं खाना है, तीन रात तक का बसा हुआ खा सकते हैं याने ज्यादा से ज्यादा चार दिन चल सकता है। शीतकाल में 7 या 8 रात का बसा हुआ आटा, गर्मियों में 5 रात का बसा हुआ आटा चलेगा, बाद में वहाँ योनिस्थान हो जाते हैं।

पूर्वजों द्वारा भक्ष्यपदार्थ की निर्णीत सीमा का समर्थन—यद्यपि कोई यह नहीं कह सकता कि तीसरी रात गुजरने के बाद चौथी रात लग गई तो वहाँ बताओ कि कहां कीड़े हुए अथवा चौथी रात के सुबह कोई बता दे कि कहां कीड़े का स्थान बना है? ऐसी शंका करने वाले से पूछें कि अच्छा तुम बताओ कि फिर कितने दिन बाद कीड़े उत्पन्न होने के योग्य वह आटा बन जाएगा? उससे ही उत्तर लेकर देखो, उत्तर मिलता है कि नहीं मिलता है। उत्तर न मिलेगा। कितना वह बतावेगा? जितना बतावेगा, उससे एक घण्टा पहिले परीक्षण करके बतावो कि ऐसा नहीं होता है या एक घंटा बाद परीक्षण करके बताओ। कीड़ा उत्पन्न होने का कोई ऐसा नीयत समय नहीं है कि जिसके बाद हो जिससे पहिले न हो, किन्तु कीड़ा उत्पन्न हो सकने के लायक वह आटा बन जाए—ऐसी सीमा हमारे पूर्वजों ने बतायी है। हम पूर्वजों की बात न मानें तो

कई बातों की व्यवस्थायें विडम्बना बन जाएगी। बताओ कितने दिन की बनाते हो? तो यह सब बात ज्ञात होनी चाहिए कि अब यह आटा योनिस्थानरूप हो गया है, अब इसे न खाना चाहिए।

जीवस्थान व मार्गणास्थानों में जीवों का आवास व सर्वत्र जीवस्वरूप की परख:—इसी प्रकार जीवस्थान का ज्ञान करें। जीवस्थान, जीवसमास जो वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त अपर्याप्त आदिक 14 प्रकार के बताए गए हैं, उनका ज्ञान होगा तो उनकी हिंसा बचा सकेंगे। इनसे दूर रहें, इनकी हिंसा न करें। मार्गणास्थान भी ज्ञात होना चाहिए। तो इन सब स्थानों को जानकर फिर उसके आरम्भ की निवृत्ति का जो परिणाम होता है, उसे अहिंसाव्रत कहते हैं। इन जीवों के भेद जानो। देखिए, प्रयोजनभूत धार्मिक ज्ञान करने के लिए आखिर में सीखने का काम 10 दिन का भी नहीं है, एक घण्टे का भी नहीं है, पर हम उस धार्मिक प्रयोजनभूत विद्या को सीख सकें, उस शिक्षा की तैयारी के लिए शिक्षण का काम वर्षों पड़ा हुआ है। जैसे आप पहिले गुणस्थान, मार्गणास्थान के भेद प्रभेद से एक स्थान में सब स्थानों को लेकर परिज्ञान करते हैं, कर जाइये। विदित हो जायेगा कि इस जीव की कैसी-कैसी दशाएं अन्तर में हुआ करती हैं और बाहर में हुआ करती हैं। बड़े विस्तार सहित इन स्थानों का परिज्ञान कर चुकने के बाद फिर धीरे से थोड़ा ही समझना होगा कि इन सब स्थानों में जो एक आधार भूत सहजस्वरूप एक शक्ति है, उस शक्ति का नाम जीव है और जो अभी जान रहे हैं—गति, इन्द्रिय, काय ये सब जीव नहीं हैं। उन्हें पहिले यह जीव है, ऐसा जानना चाहिये और फिर पश्चात् यह जीव नहीं है, किन्तु इन सब स्थानों में एकस्वरूप जो चैतन्यस्वभाव है, यह चैतन्यस्वभाव जीव है, यह जानना चाहिये।

उपचार कथन व प्रतिबोध के उपाय पर एक उदाहरण—जैसे जिस बालक को यह नहीं मालूम है कि घर में रक्खा हुआ मिट्टी का घड़ा जिसमें घी रक्खा है, यह वास्तव में मिट्टी का घड़ा है। घी का नाम तो आधेय की वजह से लिया जाता है, परन्तु शुरू से ही सब लोग कहते चले आये हैं कि वह घी का घड़ा है, उठा लावो तो वह उठा लायेगा। यों ही बहुत सी बातें बोलते हैं—तेल की शीशी, पानी का घड़ा, पानी का लोटा, टट्टी का लोटा। बहुत सी बातें ऐसी होती हैं जो किसी प्रयोजन के वश से हैं। है कुछ और उपचार किया जाता है कुछ, पर वे सब बातें परमार्थत: सत्य नहीं है, व्यवहार में सत्य हैं। कोई उसी शब्द को पकड़ ले तो वह कह सकता है कि क्यों तुम झूठ बोलते हो? जैसे उस बालक को जो कि नहीं समझता है कि यह मिट्टी का घड़ा है, घी का नहीं है, उस बालक को समझाने के लिये घर का मुखिया किस तरह समझाता है, यह देखिये—देखो भाई ! जो यह घी का घड़ा है ना, सो वास्तव में घी का नहीं है। घी तो इसका आधेय है। यह वास्तव में मिट्टी का घड़ा है। इन शब्दों में ही तो समझायेगा। इन शब्दों में सबसे पहिले क्या शब्द बोला था—"देखो जो यह घी का घड़ा है ना" इस बात को सबसे पहिले बोलना पड़ेगा, जिसका कि पहिले से परिचय चला आ रहा है। बाद में समझाकर उसका निषेध किया जायेगा।

व्यवहारकथन व प्रतिबोध का उपाय—यों ही यह सब जीवपरिणतियों का विस्तार जो व्यञ्जनपर्यायरूप है अथवा विभावगुणपर्यायरूप है, पहिले इस विस्तार का स्वरूप बताना होगा कि देखो जो यह जीव है ना, सो वास्तव में यह जीवस्वरूप नहीं है, किंतु किसी निमित्त उपाधि के संबन्ध में ऐसी-ऐसी परिणतियां हुई हैं, इन परिणतियों में एकस्वरूप रहने वाला जो चित्स्वभाव है, वह जीव है। ऐसा समझाने के लिए शुद्ध जीवाधिकार में इन सब कुलयोनियों का वर्णन आया था। यह व्यवहारचारित्र का प्रकरण है। इस कारण परिणति के समय यह सब जानना आवश्यक बताया जा रहा है कि

हे मुमुक्षु जनो ! तुम समझो कि जीव इन-इन स्थानों में रहा करता है। उन स्थानों को भेद से जानकर उन जीवों की रक्षा की परिणति होना ही अहिंसा है।

अध्यात्मदृष्टि में हिंसा का हेतु जानने की एक जिज्ञासा—इस विषय में कोई एक शंका कर सकता है कि क्यों जी ! किसी कीड़े को मार डालें तो मरकर वह नया शरीर पा लेगा, उसका बिगाड़ क्या हुआ? अरे ! उस कीड़े का वह बूढ़ा शरीर अब नहीं रहा, अब उसे नया शरीर मिल गया। नये शरीर का रंग-ढंग अपूर्व ही होता है। बिगाड़ क्या हुआ कीड़े मकोड़े मार डालने से? हाँ उन्हें दूसरा शरीर न मिले, दूसरा शरीर पाने के लिये तड़फड़ाते रहें तो हमें दोष देना ऐसी कोई शङ्का कर सकता है। यह शङ्का उसकी आध्यात्मिक क्षेत्र में है, इसीलिये समाधान भी आध्यात्मिक दृष्टि से लें।

अध्यात्मदृष्टि से हिंसा के हेतु का प्रकाशन—देखिये यह जीव अनादि काल से निगोद जैसी निष्कृष्ट अवस्था में निवास करता आया है। वहाँ से निकला तो कुछ मोक्षमार्ग के लिये कुछ प्रगति की बात आयी। यद्यपि मोक्षमार्ग का प्रारम्भ संज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीव से ही होता है, और कहीं मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं होता, किंतु संसारमहागर्त से, निगोददशा से निकलकर यदि वह दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव बना तो कुछ तो उसकी प्रगति हुई। अब देखिये किसी कीड़े को मारा व मसला तो ऐसी स्थिति से मरने वाले कीड़े को अधिक संक्लेश प्राप्त होगा। यह बात तो सत्य है ना, जिस कीड़े को पीटा जाये व मसला जाये तो उसके संक्लेश तो अधिक होगा। मानों वह तीनइन्द्रिय कीड़ा है और वह अधिक संक्लेश से मरा तो मरकर वह एकेन्द्रिय का शरीर का पायेगा, निम्न गति में जायेगा। तो देखो ना कि इतनी प्रगति का जीव जरा से तुम्हारे निमित्त से इतनी प्रगति से लौटकर फिर अवनति में चला गया तो बताओ ऐसी अवनति के भव में पहुंचना यह जीव का बिगाड़ है ना? इस आध्यात्मिक दृष्टि से भी जीव की हिंसा करना जीव पर अन्याय करना है।

आन्तरिक और व्यावहारिक अहिंसापालन का कर्तव्य—व्यवहार में निर्दयता का परिणाम आये बिना, खुदगर्जी का परिणाम हुए बिना जीवों की हिंसा में यत्न नहीं होता। इसलिये उस हिंसा का परिहार करने के लिये हमें सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये। जिसके बाह्यहिंसा का त्याग नहीं है, वह आंतरिक हिंसा के त्याग का पात्र नहीं होता है। ऐसे ही जिसके बाह्यचारित्र नहीं होता है, उसके आन्तरिक चारित्र भी नहीं होता है। जैसे जिसके बाह्यपरिग्रह का त्याग नहीं होता है, उसके आन्तरिक परिग्रह का भी त्याग नहीं होता है। इस कारण हम यथाशक्ति आन्तरिकस्वच्छता सदाशय रखकर आन्तरिकअहिंसा की वृद्धि में और बाह्यषट्काय के जीवों का घात न करके व्यवहार अहिंसा में प्रयत्नशील रहें।

हिंसा का वास्तविक कारण—हिंसा होने में कारण अपना परिणाम है। जिसका परिणाम प्रमादग्रस्त है, अज्ञानमय है, कषायमय है उसके द्वारा कदाचित् किसी जीव का घात भी न हो तो भी हिंसा लगती रहती है और जिस महाभाग ज्ञानीसंत के परिणामों में निर्मलता है, जीव की हिंसा का भाव ही नहीं होता और चलते फिरते बैठते आदि प्रवृत्तियों के समय सावधानी रहती है, उसके पैर आदिक के द्वारा कोई कुन्थु जीव मर भी जाय तो वहाँ हिंसा नहीं होती है। द्रव्यकर्म आत्मा के परिणामों का निमित्त पाकर बंधा करता है। शरीर वचन, काय की चेष्टा के कारण नहीं बधा करता है। इस कारण हिंसा परिणाम हो तो हिंसा का बंध हुआ करता है।

हिंसा का अनन्वय—कुछ लौकिक दृष्टान्त लो। एक डाक्टर किसी मरीज का आपरेशन कर रहा हो, डाक्टर भी बड़ा भला ईमानदार सबकी रक्षा का परिणाम वाला हो, आपरेशन करता है, कदाचित् उस प्रक्रिया में रोगी की मृत्यु हो जाय तो न वहाँ हिंसा का बंध हुआ और न लोक में कोई उसे हिंसक कहता है और एक शिकारी जंगल में गया, किसी पशु पर या

पक्षी पर उसने गोली तानी, उससे पहिले ही वह भाग गया, बच गया, तो यद्यपि जीव का घात नहीं हुआ तथापि उस शिकारी को हिंसा का बंध हो गया।

हिंसक एक, बन्धक अनेक—देखो परिणामों की विचित्रता कि कोई एक जीव तो हिंसा करता है और हिंसा का बंध बीसों मनुष्य कर लेते हैं। किसी ने कोई बड़ा सांप मार डाला है, अब उसको देखने के लिए बीसों आदमियों का ठट्ठ जुड़ जाता है और वे शाबासी देते हैं वाह किसने मारा, अच्छा मारा। तो द्रव्य हिंसा की केवल एक पुरुष ने किन्तु उस हिंसा के निमित्त से बंध हो गया बीसों पुरुषों को।

हिंसा से भी पहिले हिंसाफल की प्राप्ति—देखो—हिंसा करने से पहिले भी हिंसा का फल मिल जाय ऐसी भी स्थिति होती है, हिंसा करे वह पीछे और उसका फल मिल जाय पहिले। किसी मनुष्य ने किसी मनुष्य को या किसी जीव को मारने का संकल्प किया और मारने के घात में रहने लगा और मौका नहीं मिल पाता है। उसको मार नहीं पाता है। 20, 25 वर्ष बाद जब उस मनुष्य को मारने का मौका मिला तो उसने उसकी जान निकाल दी तो हिंसा तो की 25 वर्ष बाद, मगर 25 वर्ष पहिले ही उसके घात का इरादा होने के कारण कर्म बंध गया और कहो 4, 6 वर्ष बाद ही उस कर्म का फल भी भोग ले। हिंसा की बाद में और जिसकी हिंसा की उसकी हिंसा के परिणाम के कारण कर्मबंध पहिले हो गया और उसका फल भी पहिले मिल गया, हिंसा बाद में हुई।

हिंसक अनेक बन्धक एक—कहो अनेक जीव हिंसा करें और फल एक जीव ही पाये, ऐसी भी स्थिति होती है। जैसे युद्ध में सेना के द्वारा लाखों आदमियों की हिंसा हुई किन्तु हिंसा का बंध हुआ उस एक राजा को। उस राजा के हुक्म से ही सेना ने अपनी ड्यूटी पूरी की। हिंसा का कारण परिणाम है। इसी वजह से किसी जीव की मृत्यु हो अथवा न हो, जिसको जीवघात से दूर रहने का परिणाम नहीं है उसके पापों का परिहार नहीं हो सकता है।

प्राणघात से जीवहिंसा होने के विषय में एक चर्चा—यहाँ आप लोग युक्तिबल से एक शंका कर सकते हैं कि यह बतलावो कि जीव के प्राण जीव से न्यारे हैं या एकमेक हैं? यदि जीव के प्राण जीव से न्यारे हैं तो प्राणों का घात करें खूब, क्या है, जीव तो जुदा है, जीव का तो कुछ बिगड़ता नहीं। जीव से जुदा जो पदार्थ है उस पदार्थ के विध्वंस करने में जीव की हानि क्या है? और जीव के प्राण यदि जीव में एकमेक हों, जीव से न्यारे न हों तो जीव तो अमूर्त है—प्राणघात करें जीव का क्या हर्ज है? न जाने क्या हो गया, जीव का तो घात नहीं हुआ तो उसमें हिंसा न लगनी चाहिए। फिर हिंसा कहां हुई? उसका समाधान यह है कि द्रव्यदृष्टि से, निश्चय दृष्टि से तो जीव के प्राण जीव से न्यारे हैं। जीव ज्ञानानन्दस्वरूप है और ये प्राण 5 इन्द्रियां, तीन बल, श्वासोच्छवास और आयु—ये परभाव हैं, विकार है, परद्रव्य हैं, ये जीव कैसे हो सकते हैं? इस कारण जीव के प्राण निश्चय से जीव से न्यारे हैं, किन्तु व्यवहारदृष्टि से जीव के प्राण जीव से न्यारे नहीं हैं। इस कारण प्राणघात में जीवहिंसा हुई।

व्यवहारहिंसा से हानि पर शंकासमाधान—इस पर शंकाकार यह बात रख सकता है कि निश्चय से जब जीव के प्राण जीव से न्यारे हैं तो निश्चय से तो हिंसा नहीं हुई। व्यवहार से जीव के प्राण जीव में एकमेक हैं तो व्यवहार से ही हिंसा हुई। उसका भी समाधान यह है कि तुम ठीक कह रहे हो। हमें मंजूर है निश्चय से जीव की हिंसा नहीं हुई है और न प्राण ही है तब निश्चय से प्राणघात नहीं हुआ है, व्यवहार से जीव की हिंसा हुई है, क्योंकि निश्चय से तो प्राण है ही नहीं, घात ही क्या हुआ, हिंसा भी कहां हुई? व्यवहार से हिंसा हुई है, किन्तु इतनी बात सुनकर मन में यह हर्ष न मानना

कि बड़ा अच्छा हुआ। हिंसा व्यवहार से होती है, वास्तव में तो हमें हिंसा नहीं लगती। अरे हिंसा भी व्यवहार से होती है और नरकादिक के दु:ख भी व्यवहार से ही होते हैं। निश्चय से तो जीव का अविनाशी शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। तुमको व्यवहार का दु:ख पसंद है क्या? यदि व्यवहार के दु:ख पसंद हों तो व्यवहार की हिंसा करते जाइए, और यदि व्यवहार के दु:ख पसंद न हों तो व्यवहार हिंसा छोड़ दीजिए।

आत्महिंसा—अपने आपके उपयोग को इस अहिंसास्वभावी शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व में न लगाना और इसको छोड़कर अन्य असार अहित भिन्न परवस्तुवों के उपयोग में फंसाना यह अपने आपकी हिंसा है। वस्तुत: कोई जीव किसी दूसरे की हिंसा नहीं करता है, किन्तु अपने आपकी हिंसा करते हुए उस पर वस्तु का आश्रय मात्र होता है। हिंसा तो खुद-खुद की ही किया करते हैं। किसी ने किसी जीव को मार डाला तो उसे जो हिंसा हुई है वह परजीव के प्रति निर्दयता के दुष्ट आशय के परिणाम बनाने के कारण हुई है। दूसरे जीव के प्राण अलग हुए हैं इसके कारण नहीं हुई है किन्तु यहाँ यह नहीं सोचना है कि दूसरों के घात से तो वास्तव में हिंसा ही नहीं होती तब स्वच्छन्द रहें। जीव जब अपने परिणाम से अपने आपके हिंसक हुआ करते हैं तो जीव में हिंसा परिणाम में परजीव परपदार्थ का आश्रय होता है, और जिसे हिंसा का परिणाम नहीं है उसके द्वारा परजीव का घात नहीं हुआ करता है।

महती हिंसा—सबसे बड़ी हिंसा है अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया और अनन्तानुबंधी लोभ और मिथ्यात्व ये परिणाम इस जीव की प्रबल हिंसा है। मिथ्यात्व नाम अज्ञान भाव का है। अपने आपके स्वरूप का पता न रहे ऐसे अंधकार में इस आत्मप्रभु की निरन्तर हिंसा हो रही है। पर इस अज्ञानी को अपने आपकी बरबादी का ध्यान ही नहीं है।

दृष्टान्तपूर्वक मिथ्यात्व अजीर्ण मिटे बिना अहिंसा आरोग्य का अभाव—जैसे जब पेट की खराबी के कारण सिरदर्द होता है तो कोई अमृतांजन लगाता, कोई अमृतधारा लगाता, कोई लौंग बांटकर लगाये, कोई सरसों बांटकर थोपे, पर वह तो यह अनुभव करता है कि क्या होता है इन दवाइयों से? जब तक पेट की खराबी न मिटेगी तब तक सिरदर्द नहीं मिटेगा। थोड़ी-थोड़ी चिकित्सावों से मन में कल्पना में थोड़ा शांति का अनुभव होता है पर थोड़ी ही देर बाद फिर वही की वही वेदना। यह तो मन की कल्पना है। कोई आदमी 10 मिनट से सिर दाब रहा हो, बड़ा श्रम कर रहा हो और कोई पूछे कि भाई कुछ दर्द कम हुआ कि नहीं? चूकि उसकी दृष्टि इस ओर है कि यह 10 मिनट से मेहनत कर रहा है सो वह कहता है कि मुझे दर्द कम मालूम होता है, किन्तु अजीर्ण से उत्पन्न हुई शिरोवेदना तो इन दवावों से न मिटेगी। यों ही समझिये कि जब तक इस जीव में मिथ्यात्व का अजीर्ण चल रहा है और उसके कारण जो कुछ लौकिक वेदनाएं हो रही हैं उन लोकवेदनावों का इलाज यह जीव विषयसेवन से, विषयरसपान से, यहाँ वहाँ की थोथी बातों से, उन वैभव के संचय से नाना उपायों को करता हैं किन्तु इसका क्लेश तो मोक्षस्वरूप नहीं है। थोड़ी शांति समझते हैं किन्तु फिर ज्यों का त्यों दु:खी। तो जब तक यह मिथ्यात्व का अजीर्ण न पचेगा तब तक संसार के क्लेश दूर नहीं हो सकते यह मिथ्यात्व है स्वयं की हिंसा।

अनन्तानुबन्धी क्रोध से आत्महिंसा—अनन्तानुबन्धी क्रोध उसे कहते हैं जो मिथ्यात्व का पोषण करे, सम्यक्त्व ही न होने दे। इस क्रोध में अपने आपके स्वरूप को रञ्च खबर नहीं रहती है। अपने आपसे यह जीव विमुख रहता है। यह जीव कितना अपने आप पर क्रोध किये जा रहा है? यह अपने आपकी कितनी बरबादी का काम है? वह पुरुष महाभाग है

जिसको अपने आपके स्वरूप का मान रहता है। दूसरों की गालियां सुनकर हंस सके, समझ सके, यह अज्ञान की चेष्टा है। इस चेष्टा का मुझमें प्रवेश नहीं है—ऐसा दृढ़ आत्मबल कर सके, वह महाभाग अभिनन्दनीय और पूज्य है।

अनन्तानुबन्धी मान से आत्महिंसा—अनन्तानुबन्धी मान, घमण्ड का परिणाम ऐसा यत्न है जिसमें अपने आपके स्वरूप की सुधबुध ही न रहे। एकदम बाह्य में दृष्टि है, सब लोग तुच्छ हैं, कुछ नहीं जानते हैं, इनमें हम कुछ विशेष हैं, उत्तम कार्य किया करते हैं, अपने को बड़ा मानना और दूसरों को तुच्छ समझना—ऐसी जिसकी दृष्टि हुई है, उसने अपने आपके स्वरूप का अपमान किया है। दूसरों का अपमान करना, अपने स्वरूप का अपमान है। जीवन में यह गुण तो अवश्य लाओ कि जितना बन सके हम दूसरे का मान ही रक्खा करें, सम्मान ही रक्खा करें, अपमान कभी न करें। निश्चय से समझिये कि जिस दुष्टपरिणाम के कारण दूसरों का अपमान कर दिया जाता है, वह परिणाम इसके स्वरूप का बाधक है। मान न कर सकें तो अपमान भी न करें।

अनन्तानुबन्धी माया से आत्महिंसा—अनन्तानुबन्धी माया—ओह, कितनी टेढ़ी मेढ़ी चित्तवृत्ति है कि यह उसे चैन लेने ही नहीं देती है। यत्र तत्र विकल्पजाल मचा करते हैं। मायाचारी पुरुष कभी आराम से रह नहीं पाता है। बहुत दुष्ट वृत्ति है। अपनी सही वृत्ति रखो, सीधा साफ काम रक्खो। अनन्तानुबन्धी माया ने इस प्रभु आत्मदेव पर महान् प्रहार किया है। यह विश्राम पाने के योग्य भी नहीं रहता है।

अनन्तानुबन्धी लोभ से आत्महिंसा—अनन्तानुबन्धी लोभ—धर्म के कार्य में, उपकार के कार्य में लोभ करना, स्वयं लोभ करना और दूसरे धर्म के कार्यों में खर्च करते हों तो वह भी न देखा जा सकना, यह सब अनन्तानुबन्धी लोभ है। इन वृत्तियों से सार क्या निकाल लिया जायेगा? वैभव हाथ पैर पीटने से नहीं मिलता है, किंतु जो निर्मल परिणाम किया था और वहाँ पुण्यबन्ध हुआ था, उसके उदय का फल है। हिम्मत नहीं है किसी में अन्यथा करके देख ले कितना भी लोकोपकार में त्याग किया जाये, उसके वैभव में घाटा नहीं हो सकता और कदाचित् त्याग दान करते हुए भी वैभव में घाटा हो जाये तो वहाँ यह निर्णय रखना चाहिये कि इस समय यह घाटा होना था, पुण्योदय को साथ न देना था, अगर दान न करते तो यह बहुत बुरी तरह से नष्ट हो जाता है। इससे भी अधिक घोर विपत्ति आती है या कहो इस वैभव के साथ जान भी चली जाती है। अपना स्वरूप न निहारना और वैभव में दृष्टि का फंसाना—यह अनन्तानुबन्धी लोभ है। यह सब क्या हम अपने आपकी हिंसा नहीं कर रहे हैं?

अहिंसा की साधना के लिये ज्ञान विज्ञान की आवश्यकता—भैया ! हिंसा से बचने के लिये अध्यात्मज्ञान भी चाहिये और लोक के जीवों के रहने के आवासों का भी ज्ञान चाहिये। कोई पुरुष बड़े-बड़े शास्त्र पढ़कर खूब जान चुका कि इस जगह जीव रहा करते हैं और जीव हिंसा के परिहार के भाव से त्याग भी बनाए हुए है, पर अपने आपके अध्यात्म की कुछ सुध नहीं है तो अन्तर में तो महाहिंसा चल रही है और उसके कारण यह संसार का क्लेश दूर नहीं हो सकता। आत्मज्ञान और जीवों के स्थानों का ज्ञान दोनों प्रकार का ज्ञान होने पर फिर प्रयत्न करके जीवों की हिंसा का परिहार करें, इसको अहिंसाव्रत बताया गया। जो अध्यात्मप्रयन्न में तत्पर है और बाह्य में जीवघात से दूर रहने में तत्पर है—ऐसे पुरुष को हिंसा की वृत्ति का अभाव होने से अहिंसाव्रत हुआ करता है।

अहिंसा ब्रह्म—समन्तभद्राचार्य ने कुन्थुनाथ भगवान् के स्तवन में यह बताया है कि प्राणियों का परमधर्म, परमब्रह्म परमअहिंसा है। अहिंसा वही कहलाती है कि जहां पर अणुमात्र भी आरम्भ न हो। अहिंसा महाव्रत वहाँ है, जहां आरम्भ

नहीं है, परिग्रह नहीं है, विषयों की आशा नहीं है। ज्ञान-ध्यान-तपस्या में ही लीन हैं—ऐसे साधुसंतों के अहिंसा महाव्रत हुआ करता है। साधु जनों का दूसरा नाम है अहिंसा की मूर्ति। चलती फिरती अहिंसा कहो या मुनि कहो एक बात है, पर चलती फिरती अहिंसा केवल भेष के कारण नहीं होती है अथवा देखभालकर चलने, सोधकर चलने में किसी जीव की हिंसा न करें, इनसे भी अहिंसा की मूर्ति नहीं होती। यह तो एक बाह्य साधन है, यह तो होना ही चाहिये, किन्तु अपने अन्तरात्मा में अहिंसा स्वभावमय निजज्ञायकस्वरूप दृष्टि में हो, उसकी ओर ही उन्मुखता हो, विकल्पजालों से छुटकारा हो—ऐसी वृत्ति को परमार्थअहिंसा कहा करते हैं। ऐसी अहिंसा की मूर्ति साधुजन होते हैं।

नैर्ग्रन्थ्य में अहिंसा की साधकता—उस अहिंसा की सिद्धि के लिये हे भगवान् अपने परमकरुणा की ओर बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहों का परित्याग किया तथा कोई विकृत भेष न बनाया। अच्छा बताओ साधु बनना चाहिए या होना चाहिए? आप लोग उत्तर दें। साधु होना चाहिए साधु बनता कौन है? जो मुनि हुए हैं साधु हुये हैं उन्होंने अपने को बनाया कुछ नहीं किन्तु जब आत्मदृष्टि दृढ़ होती गयी तो घर से प्रयोजन न रहा तो घर छूट गया, वस्त्रों से प्रयोजन न रहा तो वस्त्र छूट गये, कुटुम्ब से प्रयोजन न रहा तो कुटुम्ब छूट गया। छूटता-छूटता ही तो गया सब कुछ, पर लगा कुछ नहीं कि चलो चिमटा रख लें, चलो त्रिशूल रख लें, भस्म रमा लें, एक कुटिया बना लें, रखने का लेने का काम कुछ नहीं किया किन्तु छोड़ने-छोड़ने का काम किया। छोड़ने-छोड़ने के प्रसंग में भी गात्र तो रहा ही, सो इसी का नाम तो लोगों ने भेष रख लिया।

परिणामों की साधुता से परमार्थसाधुता—भैया ! बनना तो वह कहलाता है कि कुछ सजावट करें, कुछ चीज रक्खें सो नहीं। पिछी, कमण्डल, शास्त्र तो उन्हें कुछ परिस्थितियों के कारण रखने पड़े। लोग कहते हैं कि साधु के पास कमण्डल और पिछी होना ही चाहिए। न हो कमण्डल पिछी तो उसकी साधुता न रहेगी, ऐसा नहीं है। न हो पिछी कमण्डल तब भी साधुता रह सकती है। हाँ यह बात है कि वह चल फिर नहीं सकता। बाहुबली स्वामी ने एक वर्ष का योग किया था, कहां पिछी कमण्डल गए होंगे, कहां पिछी उड़ गई होगी, कहां कमण्डल सरक गया होगा, वे मात्र खड़े ही रहे, तो क्या उनकी साधुता मिट गयी? पिछी की आवश्यकता वहाँ है जहां चलना हो, लेटना हो, बैठना हो और जो न चले न बैठे, लक्कड़ की नाई खड़े-खड़े, पड़े-पड़े, बैठे हुए स्थिर ही ज्ञानयोग का रसपान करता रहे वह तो महा साधु है।

साधु के उपकरणों में मूर्च्छा का अभाव—साधुजन रखता भी है पिछी, कमण्डल और शास्त्र, किन्तु कोई उसे उठाकर ले जाने लगे तो साधु यह नहीं कहता कि यह तो मेरी पिछी है, तुम क्यों लिए जा रहे हो, यह तो मेरा कमण्डल है तुम कहां रखते हो या यह तो मेरी पढ़ने की पुस्तक है तुम्हें कैसे दे दें? यदि यह परिणाम आ जाय थोड़ा तो उसके साधुता नहीं रहती, परिग्रह का दोष आ जाता है।

अहिंसाधर्म का जयवाद—पर से विरक्त, अध्यात्मयोगी, ज्ञानी संत अहिंसा की मूर्ति कहलाता है। हे प्रभो ! आपने यही पंथ अपनाया था। यह पथ, यह अहिंसा पथ त्रस घात के अहंकार से दूर है। सर्व जीवों को सुखदायी है, स्थावर के बंध से भी निवृत्त है, आनन्द अमृत से भरा हुआ है, इसी परिणाम का नाम है जैनधर्म। शुद्ध परिणामों को जैनधर्म कहते हैं। यह धर्म, यह अहिंसा महाव्रत सदा जयवंत हो।

पूर्ण अहिंसक व एकदेश अहिंसक—अहिंसा महाव्रत चारों प्रकार की हिंसावों का सर्वथा त्याग करने पर होता है। ये चार हिंसाए हैं संकल्पी हिंसा, उद्यमी हिंसा, आरम्भी हिंसा और विरोधी हिंसा।। इन चारों हिंसावों का पूर्णरूप से त्याग

साधुवों के हो जाता है। इन चार हिंसावों में से गृहस्थ संकल्पीहिंसा का सर्वथा त्यागी हो सकता है। शेष तीन हिंसावों का त्याग तो उन गृहस्थों में जैसा पद हो, जैसा वैराग्य हो उसके अनुसार हुआ करता है।

संकल्पी हिंसा—संकल्पी हिंसा कहते हैं इरादतन जीवों का घात करना, शिकार खेलना, किसी दूसरे को सताना, पीड़ा पहुंचाना, जीव हत्यायें करना, ये सब संकल्पी हिंसायें हैं। कसाईखाना खोलना, हिंसा का रोजगार रखना, कोई डाक्टरी सीखने के लिए मेंढक वगैरह चीरना—ये सब संकल्पीहिंसा में हैं। वैसे कुछ लोग यह कहते हैं कि उसमें तो उद्यमी हिंसा होनी चाहिए, क्योंकि आगे उद्यम करेंगे, डाक्टरी सीखेंगे, पैसा आयेगा, तो यह उद्यमी हिंसा होनी चाहिए, किन्तु भैया ! उद्यमी हिंसा कहते उसे हैं कि हिंसा बचाते हुए, साक्षात् हिंसा न करते हुए उद्यम करे और फिर उस उद्यम में हमारे बिना जाने जो हिंसा हो जाय वह उद्यमी हिंसा है। यदि इस मेंढक आदि चीरने को उद्यमीहिंसा कहने लगे तो कसाईखाना खोलना, जीवघात करना उसे क्यों न उद्यमीहिंसा में माना जाय? यह सब संकल्पीहिंसा है।

संकल्पीहिंसा का त्यागी श्रावक—श्रावक इरादतन संकल्पीहिंसा को नहीं किया करते हैं, ऐसी परिस्थिति है कि चाहे कितना भी लाभ होता हो, उस लाभ में लोभित होकर श्रावक संकल्पी हिंसा नहीं करता। एक बार की घटना है टीकमगढ़ की। राजा ने सुना कि जैनी पुरुष हिंसा नहीं किया करता, वह बलि नहीं करता है, चींटी तक को भी नहीं मारता। एक बार वही टीकमगढ़ का राजा बग्घी पर सवार हुए चला जा रहा था। रास्ते में कोई जैन मिला। पास ही एक बकरी जा रही थी। तो राजा ने कहा ऐ भाई ! उस बकरी को पकड़कर यहाँ ले आवो। वह उस बकरी को पकड़कर ले आया। राजा ने कहा कि लो यह छुरी है, इस बकरी को अभी काट दो। तो उसने छुरी नहीं ली और राजा के मुकाबले डटकर खड़े होकर कहा कि राजन् यह काम तो एक जैनी से नहीं हो सकता है, चाहे कुछ भी दण्ड दें, किन्तु जैनी से छुरी नहीं उठ सकती है किसी जीव को मारने के लिए। तो वह प्रसन्न हुआ और कहा कि ठीक है, जैन श्रावक बड़े दयालु होते हैं।

उद्यमीहिंसा—दूसरी हिंसा है उद्यमीहिंसा। उद्यम कर रहे हैं। उद्यम वह करना चाहिए जो हिंसा वाला उद्यम न हो। जैसे जूतों की दूकान, घी की फर्म, शक्कर की दूकान, हलवायी की दूकान, यहाँ तक कि लोहे तक का काम भी उसी में शामिल सुना गया है। तो कुछ रोजगार तो हिंसाकारक हैं उनको करना नहीं, जो सही रोजगार हैं उन्हें करें और उसमें भी जीवों की रक्षा का यत्न बनाये रहें, फिर भी कदाचित् कोई जीव मर जाय तो वह उद्यमीहिंसा कहलाती है।

आरम्भी हिंसा—तीसरी हिंसा है आरम्भी हिंसा। रोटी बनाते में, चक्की चलाते में, कूटने में, पानी भरने में जो घर गृहस्थी के कार्य हैं उनमें सावधानी रखते हुए भी कभी किसी जीव की हिंसा हो जाय तो वह है आरम्भी हिंसा।

चौथी हिंसा है विरोधी हिंसा। कोई सिंह, कोई दुष्ट डाकू आदिक अपनी जान लेने आये या अपना सर्वस्व धन लूटने आये या अपने आश्रित अन्य जनों पर कोई आक्रमण करे तो उसका मुकाबला करने में यदि उसकी हिंसा भी हो जाय, घात हो जाय तो उसे विरोधी हिंसा कहा गया है। बिना प्रयोजन सांप, बिच्छू, ततैया इनको मार डालना यह विरोधी हिंसा नहीं है, यह तो संकल्पी हिंसा है। साधुजन चारों प्रकार की हिंसावों के त्यागी होते हैं। गृहस्थजन एक संकल्पीहिंसा के तो त्यागी होते ही हैं—शेष तीन हिंसावों के वे यथापद, यथा वैराग्य त्यागी हुआ करते हैं।

हिंसारहित भोजन की भक्ष्यता—भैया ! भोजन विधि में सबसे प्रधान लक्ष्य रक्खा जाता है कि जीवहिंसा न हो। देखभाल कर चौका धोना और सब चीजें मर्यादित शुद्ध होना, दिन में ही बनाना, दिन में ही खाना—ये सब अहिंसा की प्रवृत्तियां हैं। कोई मनुष्य चीज तो अशुद्ध खाये और उस अशुद्ध जीव के खाने के पाप को छिपाने के लिए छुवाछूत अधिक बढ़ा दे

तो वह धर्मविधि में योग्य नहीं कहा है। छुवाछूत की सर्वाधिक बीमारी उस देश से शुरू होती है जहां ऐसे विशिष्ट जाति के लोग हो गए जो मांसभक्षण खूब करते हैं और मछलियां या मांसादिक रसोई में बनाते हैं और खाते हैं और करते क्या हैं कि उस रसोई पर किसी मनुष्य की छाया भी पड़ जाय तो कहते हैं कि नापाक हो गया है। बहुत बचते हैं। सर्वाधिक छुवाछूत उनमें है तो अभक्ष्य खाते हैं और बचते बहुत हैं। हालांकि बचना चाहिए, स्वच्छन्द न होना चाहिए। छुवाछूत भी भोजन के प्रकरण में कुछ दर्जे तक ठीक ही है, किन्तु उससे अधिक दृष्टि डालनी चाहिये भोजन की शुद्धता में। जिसमें हिंसा न हो, भक्ष्यपदार्थ मर्मादित हो वह भोजन युक्त है।

रात्रिभोजनत्याग की प्रधानता—साधुव्रत में कहीं-कहीं 6 व्रत लिख दिये गये हैं। 5 तो ये महाव्रत और एक रात्रिभोजन त्याग, यह साधुओं के लिये लिखा गया है। वहाँ ऐसी शंका नहीं करनी है कि रात्रिभोजन त्याग साधुओं के लिये बताया है तो उससे पहिले रात्रिभोजन श्रावक करते होंगे। तो यह मंशा नहीं है। कोई भी मनुष्य श्रावक हुए बिना, प्रतिमा धारण किए बिना सीधा भी साधु हो सकता है। ऐसे साधु पुरुषों को उनकी चर्या बतानी है तो 5 महाव्रतों के साथ रात्रिभोजन त्याग भी षष्ठ व्रत बताया है। रात्रिभोजन का जहां त्याग नहीं होता, वहाँ अहिंसाव्रत की पूर्ति नहीं हो सकती।

रात्रिभोजनत्याग के लाभ—रात्रिभोजन त्याग में अनेक गुण हैं। पहिली बात तो वैद्य लोग जानते होंगे कि ये स्वास्थ्य के लिये लाभदायक है। रात्रि के समय में भोजन में भी कुछ ऐसी त्रुटि आ जाती है प्रकृत्या कि वह सुपच नहीं होता है। दूसरे रात्रि के भोजन के बाद सोने का समय जल्दी आ जाता है, इस कारण भी सुपच नहीं होता। और मुख्य बात तो यह है कि रात्रि में जीवों का संचार अधिक होता है, दिन के प्रकाश में नहीं होता। कोई बादल भी छाया हो तो भी जो बचा हुआ प्रकाश है, उस प्रकाश में भी जीव नहीं होते और रात्रि में जीव बहुत उड़ते हैं। रात्रि में उजेला करो तो जीवराशि वहाँ और अधिक आ जाती है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा लाभ एक और भी यह है कि जिसके रात्रिभोजन का त्याग है, उसे रात्रि के समय धर्मध्यान करने के लिये अधिक अवसर मिल सकता है। अब जो रात्रि को व्यालू करते हैं उनका दिन भी झंझट में गया, और रात्रि का भी बहुभाग झंझट में चला जाता है। आप देखो ना कि शाम के समय शास्त्रसभा होती है या कोई धर्मसभा होती है तो जैनों को अड़चन नहीं मालूम होती है, क्योंकि रात्रि में खाते ही नहीं। उन्हें कुछ नहीं सोचना पड़ता है। आये और सभा में शामिल हो गये। यदि रात्रि में खाते होते तो रात्रि का टाइम बदलते या प्रार्थना करते कि महाराज 10 बजे का टाइम रक्खो। कितने ही गुण हैं रात्रिभोजन त्याग से। फिर एक मन की शुद्धता बढ़ती है। इससे यह बहुत डटकर कहा गया है कि अहिंसाव्रत पालन करने वाले को रात्रि का भोजन का त्याग तो होना ही चाहिये। अब बतलावो कोई सम्प्रदायों में साधु और संन्यासी तो हो जाते हैं और रात्रि की व्यालू चलती है। तब बतलावो अहिंसाव्रत कहां पला? अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए रात्रिभोजन का त्याग होना अत्यन्त आवश्यक है।

बेकारी में हिंसाभाव की प्रचुरता—एक और बहुत कर्तव्य वाली यह बात है कि जिसको अपने परिणाम निर्मल रखने हों और परिणामों की निर्मलता में ही अहिंसाव्रत पलता है—ऐसे पुरुष अपने पद के अनुसार अहिंसा का बचाव करते हुए किसी न किसी कर्तव्य कार्य में लगे रहें। बेकारी से बढ़कर दुश्मन और कोई नहीं होता। नीतिकारों ने कहा है कि 'को बैरी? नन्वनुद्योगः।' बैरी कौन है? जो कोई उद्योग न करे। बेकारी में आत्मघातक हिंसा परिणाम बहुत होते हैं।

व्यावहारिक कर्तव्य का पालन—अभी गृहस्थ श्रावक धर्म के नाम पर त्याग व्रत तो ले लें और जहां तक उनका परिणाम विशेष निर्मल होने का पद नहीं है, परिग्रह का जहां त्याग नहीं है, परिग्रह का सम्बन्ध है और उद्योग छोड़ दें, कमाई

छोड़ दें समर्थ होते हुए भी, तो ऐसे पुरुषों के परिणामों में निर्मलता नहीं जगती, क्योंकि बेकार हैं तो पचासों कल्पनाएं जगती हैं और विवाद हो जाते हैं, विडम्बनाएं हो जाती हैं। बेकार रहते हुए में पचासों विसम्वाद हो जाते हैं और फिर देखो कि 7-8 प्रतिमा तक तो उनका यह नियम है कि मुनि क्षुल्लक आदि किसी पात्र को प्रतिदिन भोजन कराकर ही भोजन करेंगे, यह उन्होंने व्रत लिया है। बारह व्रतों में अतिथिसम्विभाग व्रत भी है। तो व्रत तो ले लिया और जीवनभर पले नहीं तो ऐसी दिशा क्यों अपनाई जाती है? दूसरी बात है कि जिसने शुद्ध खाने का नियम लिया और साधुओं को आहार कराकर ही खाने का नियम किया, वे तो एक दिन भी साधु की पूछ नहीं कर सकते, समाज पर सारभूत बन जाते और शेष आदमी जो अव्रती हैं, जिन्हें शुद्ध भोजन की आदत भी नहीं है और कभी बनाएं तो अड़चन पड़ जाये तो बताओ व्यवहार तीर्थ पर कुल्हाड़ी चलाई या नहीं? खूब सोचने की बात है।

परिग्रहत्यागप्रतिमा से पहिले जीवनोपयोगी कर्तव्य—कायदे की बात यह है कि घर में ही रहें, उद्यम करें, कमायें और खायें। जो कुछ कमायी होती हो उसी में गुजारा चलायें। जब तक परिग्रह का पूर्ण त्याग न हो जाये, 9 वीं प्रतिमा जब तक नहीं हो जाती है, तब तक नि:शंक होकर मन में निर्णय रखकर पर घर का भोजन नहीं बताया गया है। कोई निमन्त्रण करे भक्तिपूर्वक तो वह बात अलग है, पर जो अपने उद्देश्य में कोई भोजन बनाना रखे ही नहीं है, उसका निमन्त्रण ही क्या? निमन्त्रण उसका होता है कि यदि कोई निमन्त्रण न करे तो वह रसोई बनाना शुरू कर दे। निमन्त्रण उनका हुआ करता है, जिनका निमन्त्रण न करने पर फिर आपको भोजन कराने के लिये वह पात्र न मिल सके, वह अपना भोजन बनाना शुरू कर दे।

कितनी ही बातें ऐसी हैं कि जो एक बहुत मर्म को लिये हुए हैं। कैसे परिणाम निर्मल रख सकें, किस पद में क्या करना चाहिये? पद से बहुत आगे बढ़कर बात यदि छोटे पद में की जाती है तो उसका भी परिणाम ठीक नहीं निकलता और जिस पद में हैं, उस पद के योग्य कर्तव्य नहीं किया जाता तब भी उसका परिणाम ठीक नहीं निकलता। गृहस्थ संकल्पी हिंसा का सर्वथा त्यागी है। शेष तीन हिंसाओं का यथापद में वह त्यागी हुआ करता है।

असत्यवादन में हिंसा—भैया ! अहिंसा को देवता बताया है और पूछो तो धर्म एक हैं अहिंसा। पाप एक है हिंसा। पाप 5 नहीं हैं। झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये भी हिंसा में आते हैं, किंतु लौकिक जनों को शीघ्र समझने के लिये भेद करके 5 कह दिये गये हैं। अन्यथा देख लो कि कोई झूठ बोलता है, निंदा करता है, झूठी गवाही देता है तो उसने हिंसा की हैं या नहीं, बताओ? हिंसा हुई। अपना परिणाम बिगाड़ा और दूसरे को क्लेश उत्पन्न करने का निमित्त बना। झूठ बोलना हिंसा है, इसलिये झूठ पाप है। यदि हिंसा न हो तो झूठ पाप नहीं है। पर क्या है कोई ऐसा झूठ कि जिसके बोलने पर हिंसा न हो? कदाचित् ऐसा भी झूठ बोलने में आये कि किसी भी जीव का उसमें नुकसान नहीं है। जीव का घात बच जाता है तो ऐसा झूठ बोलना भी पाप में शामिल नहीं किया गया है। मर्म जानना चाहिये, मर्म है अहिंसा।

चौर्यप्रवृत्ति में हिंसा—चोरी भी हिंसा है। अन्तरंग पाप तो यहाँ अपने परिणाम अपने स्वरूप से विपरीत बनायें और फिर जिसके धन को हरा, उसको कितनी चोट पहुंचायी, उसे कितना संक्लेश करना पड़ा? चोरी भी कितना पाप है? चोरी से हिंसा हुई, इस कारण पाप है। कोई कहे कि अच्छा हम ऐसी चोरी करते हैं कि जिसमें हिंसा न हो। तो ऐसी कोई चोरी ही नहीं है कि जिसमें हिंसा न लगे। शायद चीज चुराने वाले लोग सोचते होंगे कि हम तो सच्चाई से रहते हैं, हिंसा हम नहीं करते। बताओ किस जीव का हमने घात किया, किंतु चोरी करते हुए में जो परिणामों में जो मलिनता आई, शंका

हुई, भय बना, यही तो हिंसा है। कुत्ता यदि रसोईघर में से दो रोटी छिपकर चुरा लाये तो उसकी सूरत देखो कि कैसी हो जाती है? पूछ दबाकर रोटी को मुख में रखकर चुपके से निकल जाता है और अकेले में जाकर खाता है। किसी कुत्ते को आप बुलाकर दो रोटियां दे दें तो पूछ हिलाकर जरा प्रेम जाहिर करके निर्भयता से बड़े आराम से खाता है। तो इस बात को समझने वाले तो जीव-जन्तु भी हैं। क्या हम नहीं जानते हैं कि अमुक काम में पाप है। पाप केवल हिंसा को कहते हैं। हिंसा हो तो वह पाप है। चोरी में भी हिंसा है—अंतरंग हिंसा और बहिरंग हिंसा।

कुशीलसेवन में हिंसा—कुशील सेवन भी पाप है, क्योंकि इसमें भी हिंसा है। अन्तरङ्ग हिंसा में तो अपने स्वरूप को भूल गया, धर्मकर्म की बात को भूल गया और एक मलिन आशय में आ गया, सो यह अंतरङ्ग हिंसा तो हुई किन्तु उस कुशील सेवन में एक बार के सेवन में बताते हैं कि न जापे कितने लाख जीवों का विध्वंस हो जाता है? द्रव्यहिंसा भी वहाँ यह हुई। दूसरा कोई नाक छिनके तो कितना बुरा लगता है और अपनी नाक को खुद छिनके तो अपने को उतना बुरा नहीं लगेगा, क्योंकि वह अपनी वासना से अटकी हुई बात है। निष्पक्षता से कोई देखे तो स्त्रीसेवन में कितनी मलिनता, गन्दगी, अपवित्रता है, हिंसा की बात तो अलग है। न जाने कितनी हिंसा होती है और फिर घण्टों मूरख बनकर भी तो रहते हैं। कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है, मूढ़ बन जाते हैं, परस्पर में अटपट वचनालाप होने लगता है, विवेक उसमें कुछ नहीं रहता है। वहाँ तो हिंसा ही हिंसा है।

परिग्रहतृष्णा में हिंसा—परिग्रह का लोभ—इसको तो कहते हैं कि लोभ पाप का बाप बखाना। यह तो हिंसा है ही कि रात दिन परिणाम मलिन होते हैं, आत्मा से विमुख रहते हैं। इतना जोड़ना है, जोड़ते हुए यों ही गुजर जाते हैं।

चार चोर कहीं से दो लाख का माल चुरा लाये और रात के तीन बजे एक जगह जंगल में जा बैठे। सलाह की कि जिन्दगी में यह पहिला ही मौका है जो इतना धन हाथ लगा है, अब तो सारी जिन्दगी सुख से ही कटेगी। एक काम करें कि पहिले दो जने चले जाओ शहर और बिढ़या मिठाई लाओ, खूब खावेंगे। जब छक जायेंगे तब फिर आनन्द से इस धन को बाटेंगे। दो आदमी गये मिठाई लेने, दो रह गये धन की रक्षा करने को। अब मिठाई लाने वालों के मन में आया कि हम ऐसा करें कि इस मिठाई में विष मिला दें, वे दोनों खाकर मर जायेंगे, फिर हम दोनों प्रेम से एक-एक लाख बांट लेंगे। इधर धन की रक्षा करने वालों ने सोचा कि अपन दोनों ऐसा करें कि उनके आने पर बन्दूक से मार दें, फिर अपन एक-एक लाख रुपये बांट लेंगे। अब वे विष मिलाकर मिठाई लेकर आये तो दोनों को दूर से ही बन्दूक से मार दिया। वे दोनों तो मर गये। अब वे दोनों पहिले प्रेम से लाई हुई मिठाई खाने लगे, दोनों मिठाई खाकर मर जाते हैं और सारा धन वही पड़ा रह गया। परिग्रह में परिणाम कितने मलिन होते हैं?

अहिंसाब्रह्म की उपासना समृद्धि लाभ का अमोघ उपाय—ये सर्वपाप हिंसामयी हैं, आपको नहीं दिखता है ऊपर से। आप तो जानते हैं कि हम सोना, चाँदी, रत्न, जवाहरात इनका रोजगार कर रहे हैं। ठीक है, करते हो, करना चाहिये, पर तृष्णा में डूबना उसके ही स्वप्न रात दिन बनाये रहना यह तो इसकी साक्षात् हिंसा हो रही है। व्रत है तो एक अहिंसा का। धर्म है तो एक अहिंसा का। इस अहिंसा को ब्रह्म संज्ञा दी है। अहिंसा ब्रह्म है, इस अहिंसा का आदर किये बिना, इसकी उपासना किये बिना, यथाशक्ति अहिंसापथ पर चले बिना इस जीव को शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है। इस कारण सर्व यत्न करके इस अहिंसाव्रत का पालन करें और एतदर्थ सम्यग्ज्ञान बनावें। ज्ञान ही सर्वसमृद्धियों के मिलने का साधन है।

गाथा 57

रागेण व दोषेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं।

जो पजहदि साहु सया विदियवयं होई तस्सेव।।57।।

सत्यव्रत के सम्बन्ध में चर्चा—इस गाथा में सत्यव्रत का स्वरूप कहा गया है। राग से, द्वेष से, मोह से असत्य वचन बोलने के परिणाम को जो साधु त्यागता है, उस साधु के सत्यव्रत हुआ करता है। पाप का बन्ध शरीर की चेष्टा से, वचनों की चेष्टा से नहीं हुआ करता है। मन दो प्रकार का है—द्रव्यमन व भावमन। द्रव्यमन की तो शरीर में ही अष्टदल कमलाकार रचना होती है, उसे कहते हैं। सो द्रव्यमन शरीर में शामिल हो गया है, अलग नहीं है। यह भी पौद्गलिक है, सो द्रव्यमन की चेष्टा भी पापबन्ध का कारण नहीं है। भावमन आत्मा के ज्ञानरूप है। वह भी आत्मा का परिणाम है। अशुभ परिणाम पाप का बंधक हैं, शुभ परिणाम पुण्य का बंधक हैं अथवा सहजशुद्ध आत्मपरिणाम हो तो वह मोक्षमार्ग का प्रयोजक होता है। सत्य के सम्बन्ध में चार पदवियां हैं—एक तो वचनगुप्ति, दूसरी भाषासमिति, तृतीय सत्यधर्म, जो कि उत्तम क्षमा आदिक 10 लक्षण में आते हैं और चतुर्थ है सत्य महाव्रत। इन चारों में परस्पर में क्या अन्तर है? इसे निरखिये।

वचनगुप्ति में सत्य की परिपूर्णता—वचनगुप्ति में सत्य असत्य सभी प्रकार के वचनों का परिहार रहता है। यह वचन के बाबत ऊंची साधना है। एक बार राजा श्रेणिक ने जैनसाधुओं की परीक्षा करने के लिये चेलना से कहा कि आप इस जगह चौका लगायें और जैनसाधुओं को आहार करावें। और उस जगह खुदवाकर हड्डियां भरवाकर पटवा दिया, जिससे वह स्थान अपवित्र हो गया। चेलना को भी मालूम हो गया कि यह स्थान चौके के लायक नहीं है, किन्तु राजा ने कहा कि नहीं-नहीं, चौका जरूर लगाओ। चौका लगाया, पर किस तरह से पड़गाहा—हे त्रिगुप्तिधारक महाराज ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ। तो एक मुनि संकेत में एक अंगुली उठाता हुआ निकल गया। दूसरा मुनि आया, उसे भी उसी तरह पड़गाहा, वह भी एक अंगुली का इशारा करता हुआ आगे गया। तीसरा मुनि आया, उसे भी उसी तरह से पड़गाहा। वह भी एक अंगुली का इशारा करके चला गया। किसी ने आहार ही न किया। श्रेणिक सोचता है कि इतने साधु यहाँ आये, पर आहार क्यों नहीं किया? बताया कि मैंने त्रिगुप्तिधारी महाराज को पड़गाहा था। जिसके तीनों गुप्ति न हों, वह कैसे आये? जिसे बुलाया, वही तो आयेगा। फिर वे दोनों जब उन मुनियों के दर्शनार्थ गये तो उन्होंने अपनी कहानी सुनाई कि हमारे मनोगुप्ति न थी, एक ने कहा कि हमारे वचनगुप्ति न थी, एक ने कहा कि हमारे कायगुप्ति न थी। तीनों गुप्तियां विधिवत् पल जायें तो यह बहुत सम्भव है कि उसे अवधिज्ञान हो। जिसे अवधिज्ञान हो, वह जान जायेगा कि इसने त्रिगुप्तिधारी शब्द कहकर क्यों पड़गाहा? मामला इसमें क्या है? तो वह ज्ञान से देखता है और उसे यह मालूम हो जाता है कि यह स्थान शुद्ध नहीं है। तीन गुप्तियों की साधना बहुत बड़ी साधना है।

वचनगुप्ति की परमविश्रामरूपता—भैया ! वैसे भी देख लो कि जगत् की कौनसी चीज की तृष्णा कर रहे हो? कौनसा पदार्थ हितरूप है या आपकी मदद देगा? क्यों मरा जाये यह लक्ष्मी की उपासना में ही? गड़े रहो, धरे रहो, बने रहो, न तुम्हारा कुछ खर्च होगा, न कुछ परेशानी रहेगी अथवा किसी चेतन से या किसी अन्य से क्या आशा रखते हो? किसे मन में बसाते हो? कोई समय तो ऐसा लाओ कि यह मन पर के बोझ से रहित हो, वचन के बोझ से रहित हो, शरीर

की चेष्टा के श्रम से रहित हो जाये। इन गुप्तियों का प्रकरण आगे आयेगा। यहाँ तो इतनी बात कहने के लिये कहा है कि सत्यवचन अथवा वचन के सम्बन्ध में चार पदवियां हैं। सर्वोत्कृष्टस्थान वचनगुप्ति का है।

सत्यवचन का फलित विकास भाषासमिति—द्वितीय स्थान भाषा समिति का है। भाषासमिति में हित मित प्रिय वचन बोलना कहा गया है। जो साधु भारी बोला करते हैं, वे अपने पद से भ्रष्ट रहते हैं। अधिक बोलना, बिना प्रयोजन बोलना, गप्प मारना, हंसी ठट्ठा करना, मौज मानना बातचीत में, यह सब साधुओं का धर्म नहीं है। परिमित वचन को बोलना और वह भी दूसरों के हित करने वाले हों, ऐसे वचन बोलना। जिन वचनों से दूसरों के हित का संबन्ध नहीं है, उन वचनों का बोलना साधु को नहीं बताया है। भाषासमिति इसी का नाम है और साथ ही प्रियवचन बोलना भी यही है।

सत्य का प्रयोजक और प्रयोग उत्तम सत्य व सत्यमहाव्रत—तीसरा स्थान है उत्तम सत्य का। जिसका नाम दसलक्षण में एक धर्म में आता है। आत्मा का हित करने वाले सत्यवचन बोलना सो उत्तम सत्य है। इसमें आत्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य कुछ बात नहीं करनी है और सत्यमहाव्रत में आत्मा की भी बात अथवा देश, सम्प्रदाय की भी बात, अन्य की बात प्रयोजनवश की जा सकती है, किन्तु वह यथार्थ हो, किसी जीव को पीड़ा करने वाली बात न हो। तो आप यहाँ जानियेगा कि सत्यमहाव्रत से ऊपर भी अभी तीन स्टेज और हैं वचनालाप के संबन्ध में, उनमें से यह सत्यमहाव्रत का प्रकरण है।

साधु के अन्तर्बाह्य सत्य—साधुपुरुष रागवश झूठ बोलने का परिणाम भी नहीं करता। रागवश, स्वार्थवश, इन्द्रियविषय के रागवश, किसी मित्र के रागवश कोई ईर्ष्या वचन नहीं बोलता। देखिये कि तपों के प्रकरण में व्रतपरिसंख्यान नाम का तप आया है अर्थात् भोजन के लिये कुछ अटपट नियम ले लेना कि ऐसी गली से जायेंगे, वहाँ आहार मिलेगा तो करेंगे अथवा ऐसी घटना दिख जाएगी तो आहार करेंगे—यह बहुत ऊंचा तप है। यह तप खेल बनाने लायक नहीं है, क्योंकि इस तप को जो साधु खेल बना लेगा, उसके अनेक दोष आते हैं। समर्थ तो है नहीं, मन में कुछ सोच लिया अथवा न भी सोचा तो भी व्यर्थ ही चक्कर काटना अथवा सोच लिया और न मिले आहार तो करना ही है। तो ऐसा झूठ बोलने का परिणाम भी साधु के नहीं होता है तो झूठ बोलना तो दूर ही रह गया।

साधु के रागद्वेषवशता का व रागद्वेष व शंकर वचनालाप का अभाव—ये सब तप वगैरह उत्तरगुणों में शामिल हैं। साधु के मूलगुणों में शामिल नहीं है। उन्हें न करे तो साधुता नहीं मिट जाती, पर 28 मूलगुणों का ठीक पालन न करें तो साधुता नहीं रहती। शक्ति के बाहर छलांग मारे और फिर न संभाले तो अंतरंग में मृषा आदिक के परिणामों के पाप होंगे। उससे अधिक मल तो यह है कि उत्तर गुणों का विशेष पालन न करे, मूलगुणों का विधिवत् पालन करे। किसी कारणवश साधु के झूठ बोलने का परिणाम नहीं होता। द्वेषवश प्राय: करके, द्वेष के कारण झूठ अधिक बोल दिया जाता है क्योंकि क्रोध में, द्वेष में कुछ सचाई नहीं रहती। सो जिसमें अपना निपटना समझा जाता है वैसे ही वचन बोलेगा। यह भी साधु पुरुष नहीं करते।

साधु के मोहवशता का अभाव—मोहवश भी साधु मृषा नहीं बोलते। किसी साधु ने किया चार महीने का उपवास। वह साधु चतुर्मास बाद ही चले गये। बाद में दूसरे ही दिन दूसरा साधु निकला तो लोगों ने उस दूसरे साधु की तारीफ की। अहो—देखो चार महीने का उपवास किया है इन मुनिराज ने और उसने रोज-रोज खाया था, उपवास भी न किया था, लेकिन वह चुपचाप सुनता रहा। सोचा कि यह तो मुफ्त ही प्रशंसा मिल रही है, सो वह चुप रहना भी उनका झूठ है।

इतना कहने में कौनसी हानि थी कि भाई वह मुनि कोई दूसरे होंगे। हम उपवासी नहीं हैं। साधु रागद्वेष मोहवश झूठ बोलने का परिणाम भी नहीं करते हैं। ऐसे साधुवों के ही सत्य महाव्रत है।

निश्छल यथार्थ व्यवहार का कर्तव्य—भैया ! इतना ध्यान तो हम सबको भी होना चाहिए कि हम मोह रागद्वेष का आदर न रक्खें और हित मित प्रिय वचन बोलें। देखो ये सब कलायें उसके जगा करती हैं जिसको बाह्यपदार्थों में तृष्णा का परिणाम नहीं जगता। सर्वकषायों में लोभ कषाय इस जीव को घनी चोट देने वाली होती है। लोभ की मित्रता माया से है, छल कपट से है। जिसके तृष्णा का परिणाम विशेष है वह मन में कुछ रक्खेगा, वचन में कुछ कहेगा, शरीर में कुछ करेगा और ऐसे तृष्णावान् पुरुषों को हित मित प्रिय वचन बोलना जरा कठिन हो जाता है। सो जरा एक विवेक की ही तो बात है। इतना निर्णय रखने में आपका क्या जाता है कि मेरे आत्मा का मेरे आत्मस्वरूप से अतिरिक्त परमाणुमात्र भी कुछ नहीं है। इस निर्णय में भी कुछ नुकसान है क्या? यदि यह निर्णय है अंतरंग में तो तृष्णा का रंग नहीं चढ़ सकता। और जब तृष्णा नहीं है तो सत्यव्रत का पालन भली प्रकार निभ सकता है। हम दूसरों से हितकारी वचन बोलें जिससे दूसरों का भी भला हो, छलपूर्ण वचनों का परिहार करें, जितनी शक्ति है जितनी बात है उतनी साफ हो।

पशुवों में भी निश्छलव्यवहार का सन्मान—एक मुसाफिर जंगल में जा रहा था, उसे मिल गया शेर। सो डर के मारे वह मुसाफिर एक पेड़ पर चढ़ गया। उस पेड़ पर बैठा था पहिले से रीछ, अब तो उसके सामने बड़ी कठिन समस्या आ गयी। ऊपर रीछ और नीचे शेर। अब तो वह डरा। पर रीछ ने कहा कि ऐ मनुष्य तुम डरो मत। तुम हमारी शरण में आये हो तो हम तुम्हारी रक्षा करेंगे। उसके कुछ साहस हुआ। वह पेड़ पर बैठ गया। इतने में रीछ को नींद आने लगी। तो सिंह नीचे से कहता है कि रे मनुष्य !रीछ हिंसक जानवर है, अब यह सो रहा है, तू इसे धक्का दे दें तो तू बच जायेगा, नहीं तो मेरे चले जाने पर तुझे मार डालेगा। उसकी समझ में आ गया। रीछ को धक्का देने लगा तो उसकी नींद खुल गयी रीछ संभल गया और न गिर पाया। अब थोड़ी देर बाद मनुष्य को नींद आने लगी। तो सिंह कहता कि रे रीछ। यह मनुष्य बड़ा दुष्ट और कपटी जानवर है, इसको तू नीचे गिरा दे तो तेरी जान बच जायेगी, नहीं तो तू भी न बचेगा। रीछ कहता है कि यह कैसे हो सकता है, हमने इसे शरण दिया है। सिंह बोला कि देख अभी तुझे नीचे गिरा रहा था इतना कपटी मनुष्य है, फिर भी तू उसकी रक्षा-रक्षा चिल्ला रहा है। रीछ ने कहा कि मनुष्य चाहे मुझे धोखा दे दें, पर हम जो एक बार आश्वासन दे चुके हैं उससे नहीं हट सकते। देखो भैया ! जब पशु भी कपट नहीं करते, तब मनुष्यों को तो करना ही क्यों चाहिये?

प्रायोजनिक निश्छल वार्ता की उपादेयता—आप सोचो कि छलपूर्ण वचन कितने भयंकर वचन होते हैं। जिसके साथ छल किया जाय उसको कितनी अन्तर्वेदना होती है, उसे वही भोग सकता है। छल भरी बात सब झूठ है। साथ ही यदि परिमित वचन न हो तो वह भी अनेक विपत्तियों को लाने वाला है। जो ज्यादा बोलते हैं उनका कितना नुकसान है। एक तो वचन अधिक बोलने से वचन की कमजोरी हो जाती, आत्मबल भी कम हो जाता। और कोई अप्रयोजन बात भी बन जाय तो उसका विसम्वाद खड़ा हो जाता है। क्या आवश्यकता है? अरे गृहस्थजन हैं उन्हें तो दो बातों का प्रयोजन है, धर्म का प्रसार हो, धर्म का पालन हो और आजीविका चले। तो जिस बात से धन मिले अथवा धर्म पले उस बात को बोलो, गप्पों में पड़ने से क्या लाभ है?

अप्रिय वचनों की हेयता—भैया ! वचन प्रिय भी होने चाहियें। एक देहाती आदमी गया गंगा नहाने, उसे लगने लगे वहाँ दस्त। वह बीमार हो गया। वहाँ एक झोपड़ी में एक बुढ़िया रहती थी, उसने दया करके कहा कि घबरावो मत, हमारे यहाँ ही भोजन करो। तो पथ्य में उसने खिचड़ी वगैरह बनायी। वह वहाँ ठहर गया। जब बुढ़िया खिचड़ी बना रही थी तो वह बोलता है कि बुढ़िया मां तुम्हारा खर्च कैसे चलता है? तुम तो बड़ी गरीब हालत में हो। बुढ़िया बोली—हमारे दो बेटा है, वे ही खर्चा भेज देते हैं। फिर मुसाफिर बोला कि यदि बेटे मर गये तो फिर कैसे खर्च चलेगा? तो उसने कहा कि तुझे खिचड़ी खाना है कि अट्टसट्ट बकना है। फिर थोड़ी देर बाद बोला कि बुढ़िया मां तुम अकेली रहती हो तुम्हारी शादी करा दें तो तुम दो हो जावोगे। लो, उस बुढ़िया ने उसे वहाँ से भगा दिया। तो ये अप्रिय वचन ही तो थे? कहना तो ठीक था। अरे बेटे मर जायेंगे तो खर्चा कहां से चलेगा, अकेली रहती थी कोई दूसरा होता तो ठीक था। कहना तो ठीक था, पर उस जगह वे अप्रिय और अनुचित वचन थे। अप्रिय वचन हिंसापूर्ण होते हैं, अत: वे हेय हैं। सत्य वचन अहिंसापूर्ण होते हैं।

सत्य आशय की स्वच्छता—अहिंसा का ही अंग है सत्य बोलना। सत्य वचन बोलने से अपने आपकी रक्षा है और दूसरों की रक्षा है। जो कोई साधु आसन्न भव्य हैं अर्थात् जिनकी मुक्ति निकट है, होनहार उत्तम हैं ऐसे पुरुष ही उत्तम संग में, उत्तम आचरण में रहते हैं, परिग्रह की तृष्णा भी न होने की प्रकृति बनाते हैं और दूसरे जीवों को न सताने का भाव रखते हैं। वे आत्मकल्याण भी करते हैं और परमकल्याण भी करते हैं। ऐसे गृहस्थों में भी बिरले महात्मा संत होते हैं। कोई भेष धर लेने मात्र से अन्तरङ्ग की बात नहीं बनती। उपादान तो बहुत कषाय से भरपूर हो, अज्ञान से भरा हो और भेष धर्मात्मा का धारण कर ले तो कहीं उस प्रवृत्ति में कर्मबंध न रुक जायेगा। गर्दभ को कहीं सिंह की खाल मिल जाय और उसे ओढ़ ले तो कुछ दिन तक भले ही दूसरें जीवों को चकमा देता रहे परन्तु शूरता तो उसमें न हो जायेगी। गृहस्थजन कोट, कमीज, टोपी के ही भेष में रहते हैं, रहें किन्तु जिस गृहस्थ का अन्तरङ्ग शुद्ध स्वच्छ है वह सत्पथ पर ही है। स्वच्छता यही है कि बाह्यपदार्थों में आत्मीयता न करना और यह दृष्टि में रहे कि मेरा-मेरा स्वरूप के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सत्य कल्प व जल्प का सत्य प्रभाव होता है।

अहित व अप्रिय वचन से निवृत्ति—भैया ! जो परिग्रह का समागम हुआ है, उस परिग्रह का प्रतिदिन या यथा अवसर सदुपयोग करो अन्यथा कोई ऐसा टिल्ला लगेगा कि अचानक ही धन बरबाद हो जायेगा। अपनी शुद्ध वृत्ति से पर के उपकार में लगने के लिये सद्गृहस्थ उत्साहित रहा करते हैं। वैभव को परोपकार में लगाते हुए चित्त में ऐसी स्वच्छता रहनी चाहिये कि अहितकारी और अप्रिय वचन बोलने का परिणाम भी न आये। साधु अहिंसा और सत्य की मूर्ति है। वास्तविक सत्य तो वह है, जो आत्मा की उन्नति के साधक ही वचन हों। उसके अलावा यदि रोजगारसंबन्धी भी सच्चाई के बर्ताव के वचन हैं तो वे भी मोक्षमार्ग की दृष्टि में असत्य कहलाते हैं। इन सत्यवचनों का गृहस्थ त्यागी नहीं होता। इस कारण गृहस्थ के सत्यअणुव्रत है। गृहस्थ व साधु हो, सभी आत्मार्थी जनों को अहित व अप्रिय वचन से निवृत्त रहना चाहिये।

असत्यवादी से दूर रहने में भलाई—जो पुरुष सत्य वचनों में अनुराग रखता है, असत्य वचनों का परिहार करता है; वह बड़े देवेन्द्रपथ को प्राप्त होता है, नाना भोगों का पात्र होता है और इस लोक में भी सज्जनों के द्वारा पूज्य होता है। सत्य से बड़ी प्रतिष्ठा होती है। जिस पुरुष के संबन्ध से दूसरे को यह विदित हो जाये कि यह असत्य बोला करता है तो

उसके निकट लोग बैठना भी पसंद नहीं करते। उसे खतरा समझते हैं और विचारते भी हैं कि न जाने इसकी बात में आ जायें तो मेरा क्या-क्या अलाभ हो जावे।

असत्यवादी के संग से क्षति होने पर एक दृष्टान्त—एक पुरुष ने किसी सेठजी के यहाँ नौकरी की। सेठ ने पूछा कि क्या लोगे वेतन? उसने कहा कि साहब ! थोड़ा सा छटांक-दो-छटांक भोजन और साल भर में एक बार झूठ का बोलना, यह हमारा वेतन होगा। सेठ ने समझा कि यह तो बड़ा सस्ता नौकर मिल गया और रख लिया उसे। कुछ माह बाद नौकर ने सोचा कि सेठजी से झूठ बोलने का अपना वेतन तो पूरा ले लेना चाहिये। तो नौकर ने सेठानी से कह दिया कि सेठजी वेश्यागामी हैं, तुम्हें इनका पता नहीं है, ये रात्रि को शहर भाग जाया करते हैं। तुम इनकी परीक्षा कर लो, इनकी आदत छुटाने का भी उपाय कर लो। तुम रात्रि को उस्तरे से इनकी एक ओर की दाढ़ी बना दो जब कि वे खूब डटकर सो रहे हों, तो उन्हें पता ही न पड़ेगा। कुछ उस्तरे ऐसे भी होते हैं कि धीरे से बाल बना भी दो तो पता नहीं चलता। जब ये बदसूरती में वेश्या के यहाँ जावेंगे, तब वेश्या इन्हें निकाल देगी। यह तो कह दिया सेठानी जी से और सेठजी से क्या कह दिया कि आज सेठानी दूसरे यार की बात में आकर रात्रि को तुम्हारी जान लेने आयेगी, आज तुम सोना नहीं, जगते रहना और झूठमूठ सोना। अब तो उसे नींद न आये। रात्रि को वह बढ़िया उस्तरा लेकर सेठजी की एक तरफ की दाढ़ी साफ करने आयी। सेठजी सो तो न रहे थे, उन्होंने सोचा कि नौकर ने ठीक ही कहा था कि सेठानी आज तुम्हारी जान लेने आयेगी। अब सेठ सेठानी में बहुत विकट लड़ाई हुई तो नौकर कहता है कि सेठजी हमने अपना पूरा वेतन ले लिया, अब घर जा रहे हैं। तो किसी-किसी को झूठ बोले बिना, चकमा दिये बिना चैन नहीं पड़ती है। कितनी प्रकार के इस जीव के परिणाम रहते हैं और उसके कारण कैसे वचनालाप होते हैं, वे सब हिंसात्मक वचनालाप हैं।

सत्यभाषण की आवश्यकता—भैया ! जहां राग-द्वेष-मोह भाव होता है, वहाँ अहिंसापोषक सत्य वचन नहीं होता हैं। मनुष्य के सब व्यवहारों का साधन वचनव्यवहार है। वचन बोलने की ऐसी विशद योग्यता मनुष्यभव में प्राप्त होती है। असत्य बोलकर मनुष्य जीवन को विफल कर दिया जाये तो पशु, पक्षी, कीड़े, स्थावरों जैसा तिर्यंचभव मिलेगा, वहाँ कठिन विडम्बना बीतेगी। सत्यभाषण से उत्कृष्ट व्रत और व्यवहार में क्या हो सकता है? सत्यभाषण के प्रसाद से चोरी, कुशील, तृष्णा और जीवघात आदि सब दोष समाप्त हो जाते हैं। अत: अप्रमादी होकर सत्यभाषण करना प्रमुख कर्तव्य है।

गाथा 58

गामे वा णयरे वा रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं।
जो मुचदि गहणभावं तिविदवदं होदि तस्सेव।।58।।

अचौर्यव्रत—अब अचौर्यमहाव्रत का स्वरूप वर्णन किया जा रहा है। चोरी न करना इसका नाम अचौर्य व्रत है। जिन आध्यात्मिक योगियों ने परमार्थ चोरी से दूर रहने का संकल्प किया है, ऐसे ज्ञानी संत व्यवहार अचौर्य महाव्रत के पालने में सावधान रहा ही करते हैं। वस्तुत: चोरी उसका नाम है कि हो तो परवस्तु और अपना बना लेवे। व्यवहार में भी जो चोरी नाम है, वह भी यही अर्थ रखता है तो दूसरें की चीज, दूसरे के अधिकार की बात और उसे किसी समय आँख बचाकर ले लेना अर्थात् अपनी बना लेना, पर की चीज को अपनी बना लेने का नाम चोरी है। अब देखो कि दुनिया में अपनी चीज क्या है और पर की चीज क्या है? एक आत्मस्वरूप को छोड़कर शेष समस्त पदार्थ पर हैं, उन परों को

अपना लेना, कल्पना में अपना मान लेना आध्यात्मिकक्षेत्र में, मोक्षमार्ग के प्रकरण में यही चोरी है। जो ज्ञानी पुरुष हुए हैं, उनके इस प्रकार से चोरी का परिहार हुआ।

मूलत: अचौर्यव्रत—जो व्यवहार की चोरी से तो दूर हैं, किन्तु परमार्थ की चोरी से दूर रहने का जिनका ध्यान भी नहीं है, ऐसे पुरुष पुण्यबंध तो कर लेते हैं, किन्तु जिसे धर्म कहते हैं जिसे कर्म की निर्जरा का कारणभूत उपाय कहा करते हैं, वह नहीं बन पाता—ऐसे ज्ञानी संत जो कि परवस्तु को पर ही जानते हैं और आत्मस्वभाव को निज जानते हैं वे व्यवहार की चोरी से दूर रहने में बहुत सावधान रहते हैं। ग्राम में, नगर में या वन में पर की चीज को देखकर जो ग्रहण करने का भाव छोड़ता है, उसके ही यह अचौर्य महाव्रत होता है। दूसरे की चीज न लेना, इस चोरी के त्याग का नाम उपचार से है और दूसरे की चीज को लेने का भाव ही न उत्पन्न होना, यह है मूल में अचौर्य महाव्रत।

चौर्य के परिणाम की पापरूपता—भैया चीज के धरे उठाये जाने से चोरी का पाप नहीं होता, किन्तु चोरी का परिणाम करने से चोरी का पाप होता है। इरादतन चोरी के भाव से चीज ग्रहण करने का नाम चोरी है। आपसे कोई मित्र बात कर रहा हो और उसकी प्रसंग में कभी ऐसा हो जाये कि आप उसकी जेब से पैन निकाल लें, आप उससे गप्पें करते जा रहे हैं और गप्पें करते हुए ही आप अपने घर जाने लगें तथा वह मित्र अपने घर जाने लगे। आपको उस मित्र का पैन देने का ध्यान ही न रहा और हो भी जाता है ऐसा। अब आप अपने घर पहुंच गये, ख्याल आया कि ओह, गप्पें करते हुए में मित्र का पैन ले लिया था, देने का ध्यान ही न रहा। अब आप जाकर उस मित्र का पैन दे आते हैं। अब आप यह बतलावो कि क्या इसमें चोरी का पाप लग गया? नहीं लगा। इरादतन किसी की वस्तु को अपना लेना, इसका नाम चोरी है।

परवश अनिच्छादत्त का भी चौर्य पाप—कोई पुरुष यह सोचे कि दूसरे के द्वारा बिना दी हुई चीज का ले लेना चोरी है और डाकू लोग आपके हाथ से भी वस्तु ले लिया करते हैं तो क्या वह चोरी नहीं है? वे आपसे ही कहते हैं कि चाबी निकालो, आपसे ही कहते हैं कि तिजोरी खोलो, आपसे ही धन निकलवा कर ले लेते हैं तो यह भी तो चोरी है। पर की चीज को पर की इच्छा के बिना, पर की प्रसन्नता बिना ले लेना, इसका नाम चोरी है। किसी को दबाकर, परेशान कर, किसी मामले में फंसाकर उससे कुछ ले लेना, यह भी चोरी है। हाथ से कोई दे और आप ले लें, इतने मात्र से चोरी का पाप नहीं मिटता है, किन्तु यदि कोई इच्छापूर्वक दे, प्रसन्नता सहित दे और आप उसे ग्रहण करें तो वह चोरी में शामिल नहीं है।

व्यवहाराशक्य प्रसंग में चोरी का अभाव—जिन चीजों में देने का और लेने का व्यवहार ही नहीं है तो ऐसी वस्तुवों को कोई ले लेवे तो वह भी चोरी नहीं है। कर्मवर्गणाएं कितनी यह जीव ग्रहण करता है? क्या कोई कर्मवर्गणाएं दिया करता है? लो अब इसे बान्ध लो और अपने घर में धर दो। कोई देने वाला नहीं है, उसमें देने और लेने का व्यवहार ही नहीं है। कर्मवर्गणावों को ग्रहण कर लेना, बान्ध लेना, यह चोरी नहीं है क्या? नहीं।

अचौर्यव्रत का व्यवहार्य व्यवहार—किसी भी जगह कोई चीज पड़ी हो, किसी की भूली हुई हो, किसी की धरी हुई हो अथवा गिर गई हो, उस परद्रव्य को देखकर भी स्वीकार करने का परिणाम न होना, इस ही का नाम अचौर्य महाव्रत है। कितनी ही जगह हैं, जहां किसी का परद्रव्य गिर जाता है, भूल जाता है, उसको इस गाथा में सांकेतिक किया है जैसे ग्राम, नगर व असंख्य अर्थात् वन में। गांव उसे कहते हैं जो बाड़ियों से घिरा हुआ हो। जैसे छोटे-छोटे गांव होते हैं ना तो घरों के चारों ओर अथवा जननिवास के चारों ओर खेत खलिहान की बाड़िया लगी होती हैं। तो बाड़ियों से घिरा

हुआ जो मनुष्य का निवास है, उसका नाम गांव बताया गया है। जिस गांव के चारों ओर आने जाने के दरवाजे हों, अच्छे सुसज्जित स्थान हों, उन निवासों को कहते हैं नगर। नगर बड़ी चीज है। तो चाहे गांव में भूली पड़ी गिरी वस्तु हो; चाहे नगर में भूली पड़ी गिरी वस्तु हो या वन में भूली पड़ी गिरी हुई वस्तु हो तो उस वस्तु को स्वीकार न करना और स्वीकार के परिणाम भी न होना या भावना होना, इसका नाम अचौर्य महाव्रत है।

वैभव भी धूल—एक श्रावक श्राविका थे। दोनों किसी काम से दूसरे गांव जा रहे थे। तो प्राय: यह रिवाज है कि पुरुष आगे चलता है और स्त्री पीछे चलती है। किसी जगह स्त्री एक फर्लांग दूर रह गई और उस मनुष्य को एक जगह 10, 20 पड़ी हुई मोहरें मिल गई, किसी की गिर गई होंगी। तो श्रावक सोचता है कि पत्नी पीछे आ रही है, उसके आने से पहले ही इन मोहरों पर धूल डाल दें और इन्हें ढक दें, नहीं तो इनको देखकर सुहा जाने से स्त्री का मन मिलन हो जायेगा और पापबन्ध हो जायेगा। सो वह उन मोहरों पर धूल डालने लगा। इतने में स्त्री आ गयी और कहती है कि आप यह क्या कर रहे हैं? वह बोलता है कि मोहरों पर धूल डाल रहा हू ताकि इनको देखकर तुम्हारा परिणाम न मलिन हो जाय। तो स्त्री कहती है कि क्या व्यर्थ का काम कर रहे हो, बढ़े चलो आगे, तुम धूल पर धूल क्यों डाल रहे हो? तो श्रावक के मन में यह आया कि ये मोहरें हैं, इनको देखकर स्त्री का परिणाम न मलिन हो जाय और श्राविका के मन में आया कि क्या धूल पर धूल डाल रहे हो? तो ऐसा ही परिणाम जहां हुआ करता है वस्तुत: अचौर्य महाव्रत का पालन वहाँ होता है।

अचौर्य महाव्रत का परिणाम—किसी की चीज कहां खो जाती है इसका संकेत किया गया है—ग्राम, नगर व वन। प्राय: वनों में इनके खो जाने का प्रसंग अधिक आया करता है, साधुवों के सत्संग में लोग वनों में जाते हैं—साधुजन चूकि वनों में ही रहा करते हैं, वहाँ दर्शन करने श्रावक लोग खूब जाते हैं। खूब भीड़भाड़ हो जाती है, भीड़भाड़ के कारण वहाँ बहुत से आभूषण गिर जाते हैं, वन में नाना वनस्पति, लतायें, छोटे पौधे अधिक होते हैं वहाँ पड़ जाते हैं। तो कोई वस्तु हो, गिरी भूली धरी हो उसके स्वीकार करने का परिणाम जो त्याग देता है ऐसे साधु के अचौर्य महाव्रत का परिणाम होता है। जो पुरुष इस अचौर्य महाव्रत का पालन करता है उसको इस लोक में अथवा परलोक में बहुत विभव समृद्धि प्राप्त होती है। उच्च गति हो, स्वर्ग के वैभव मिलें और ऐसा निराला परिणाम रखने वाले पुरुष मनुष्यभव को सफल करते हैं, मुक्ति के पात्र होते हैं।

धर्मपालन में आन्तरिक साहस की आवश्यकता—भैया ! दो चीजों का मेल करना बड़ा कठिन है। (1) लोकपोजीशन भी हमारी बढ़ी हुई रहे और (2) धर्म का पालन भी सही प्रकार कर लें—इन दोनों का मेल होना आज के समय में तो बड़ा कठिन है। किसी भी प्रकार की लौकिक पोजीशन हो, चाहे नेता बनकर पोजीशन बढ़ाई जाय अथवा धनी बनकर पोजीशन बढ़ाई जाय, बड़ा कठिन पड़ता है कि शुद्ध सरल स्वच्छ परिणाम रखकर अन्तर में धर्मपालन भी बराबर रहे और यह लोकप्रतिष्ठा भी बनी रहे। खूब समृद्धिशाली धनी हो जाना यह भी साथ चलता रहे, यह बहुत कठिन काम है। धर्मपालन की धुनि वाला इतना साहस किए हुए हो कि मैं अकेले ही भला चोखा रहूं अथवा कैसी भी स्थिति आ जाय, प्रत्येक स्थिति में गुजारा किया जा सकता है।

ज्ञानी की अनाकांक्षता—एक भजन में यह लिखा है कि 'जगत् में सुखिया सम्यक्वान। भीख मांगकर उदर भरे पर न करे चक्री का ध्यान।।' चाहे किसी से मांगकर, अपनी बात बताकर किसी से भिक्षा लेकर ही पेट भर ले पर चित्त में यह ध्यान

कभी नहीं लाते उत्तम पुरुष कि हाय हम न हुए चक्रवर्ती के जैसे वैभव वाले। ऐसा किसी भी प्रकार का ध्यान न करना। जो चक्री हो वह भी भव परित्याग करेगा और जो थोड़ी स्थिति का हो वह भी सब परित्याग करेगा। अध्यात्मक्षेत्र में किए जाने वाले कर्तव्य को लोक क्षेत्र के सिर पर खड़े होकर सुनें तो वह सब अटपट लगता है कि क्या कही जा रही है कायर बनने की बात? देश किस ओर जा रहा है, हवा कैसी चल रही है, राजनीति संभालने का समय है और यहाँ क्या उपदेश हो रहा है, अटपट लगता है, किन्तु अध्यात्महित से भाव से इस ही तत्त्व को सुना जाये, कहा जाय तो बात यथार्थ सत्य है। यहाँ कितने दिन को सुख चाहते हो, कितने दिन के आराम के लिए सारा श्रम किए जा रहे हो? कल का ही तो कुछ पता नहीं है। क्या होगा भविष्य में, इसका भी तो ध्यान होना चाहिए।

निज प्रभु के प्रसाद में अचौर्यव्रत का पालन—अचौर्यव्रत का धारी अंतरङ्ग में ऐसा निर्मल है कि वह इस देह को भी अपनाता नहीं। देह मेरा है, देह को हम अपना बना लें, ऐसी भी बुद्धि साधुसंत पुरुष के नहीं होती है यद्यपि देह को छोड़कर कहां जायें, लगा हुआ ही है, पर देह मैं हू, देह मेरा है ऐसी उसकी बुद्धि नहीं होती है। देह से भी न्यारा ज्ञानप्रकाशमात्र समस्त आनन्द के निधान ज्ञानस्वरूप निज प्रभु का प्रसाद पाये बिना संसार में कितने दु:ख भोगने पड़ रहे हैं? दु:ख कुछ नहीं है, दु:ख बना लिया जाता है। और मनुष्य तो प्राय: दु:ख बनाने में बड़े कुशल हैं।

मनुष्यों में पशुवों से अधिक व्यग्रता—पशुवों को जब भूख लगी तब मिल गया, खा लिया, पर घास का संग्रह करके रक्खें और सालभर का हिसाब बनावें ऐसा वहाँ कुछ नहीं है। निर्द्वन्द्व होकर पक्षी पशु जंगल में विचरते फिरते हैं। कहीं के कहीं चले जायें, कुछ हुई नहीं है। जिस समय वेदना हुई उस समय इलाज कर लिया। हालांकि यह नहीं कह रहे हैं कि पशु पक्षी बुद्धिमान हैं मनुष्य से, पर मनुष्यों को तो देखो कि वे कितने फंसे हुए है? क्या वे मनुष्य एक वर्ष को ही अपने विषयों के साधन जोड़ते हैं? नहीं। जिन्दगी भर को और जीवन में भी यह नहीं सोच सकते कि चलो जो मिला है उसे खा ही लें। वे तो केवल ऊपरी रकम से ब्याज से, किराये से हमारा जीवन चले और सब सुरक्षित रहे, ऐसी बुद्धि बनाए हुए है। इसके अतिरिक्त यश प्रतिष्ठा की चाह का तो कुछ कहना ही नहीं है।

स्वरूपविरुद्धवृत्ति में मोही की होड़बाजी—यद्यपि पशुपक्षियों में भी थोड़े समय को यश की चाह उत्पन्न होती है, किन्तु वे थोड़ी देर को सिर में सिर, मार लेते और जरा अपन जीत गए, खुश हो गए, हम बड़े कहलाने लगे यों अनुभव करने लगते हैं। जरा चोंचों से और पंखों से मार कर किसी पक्षी को भगा दिया, लो अपने में यश का अनुभव करने लगते है। यद्यपि पशुपक्षी भी यश प्रतिष्ठा चाहते हैं, लेकिन इस मनुष्य में कितने विकल्पजाल होते हैं। यश चाहने में नाम बढ़ाने के लिए कैसी-कैसी स्थितियां बनी हुई हैं? धनी जुदा होना और बातें जुदा करना, कितनी बातें चलती हैं तो स्वीकार की बात देखो—कितने परतत्त्वों को यह आत्मा स्वीकार कर रहा है, पर ज्ञानी संत पुरुष एक आत्मीय चित्स्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी भी तत्त्व को स्वीकार नहीं करता। स्वीकार का अर्थ क्या है—'अस्वं स्वमिव करोति इति स्वीकार:' जो अपना नहीं है उसको अपने की तरह कर लेना इसका नाम हे स्वीकार। स्व शब्द है ना, और फिर कार शब्द और लग गया—'स्वं इव करोति इति स्वीकार:' जो अपना नहीं है उसे अपना बना लेना इसका नाम है स्वीकार। स्वीकार शब्द संस्कृत का है। निज को निज पर को पर जान, यह है अचौर्य महाव्रत का उत्कृष्ट स्वरूप, लेकिन खेद है कि स्वरूप विरुद्धवृत्ति में हमने पथ से भी होड़ लगा दी है।

व्यामोह का नशा—भैया ! कुछ मोटेरूप से ही देखो तो चोरी करने वाला पुरुष न तो शांति का पात्र रहता है और न धर्म का पात्र रहता है, बल्कि अंत में वह ही उल्टा बरबाद हो जाता है। क्या कभी किसी डाकू को धनी होते देखा है? नहीं देखा होगा। बल्कि वे डाकू परस्पर में ही लड़कर एक दूसरे पर गोली चला देते हैं, या सरकारी सिपाही आदि मार डालते हैं वे मर जाते हैं। उनका जीवन में कभी भला नहीं हो पाता है और जब तक जीवन है तब तक भी वे सदा भयशील बने रहते हैं, इधर-उधर छिपते फिरते हैं, सारे नटखट हुआ करते हैं, किन्तु व्यामोह का नशा बड़ा विचित्र है कि इतने कष्ट भोग करके भी जिसकी चोरों की प्रकृति पड़ जाती है वह रह नहीं सकता।

सत्यभाषण से पापनिवृत्ति—कहीं इतिहास में या पुराण में सुना है कि किसी राजा के पुत्र को चोरी करने की प्रकृति पड़ गयी। हालांकि कुछ कमी न थी, पर चोरी करने में उसे आनन्द आता था। इस ही बात से राजा ने उसे निकाल दिया था। लेकिन जब कोई साधु का सत्संग हुआ तो वहाँ साधु ने कहा कि तुम चोरी का परित्याग करो। बोला—महाराज इसमें तो हम ऐसा रंग गए हैं कि इस जीवन में यह काम नहीं छूट सकता। महाराज और कोई व्रत दिलावो। तो कहा—अच्छा देखो तुम सच बोला करो। राजपुत्र बोला, हाँ महाराज यह तो कर सकेंगे। मैं अब सच ही बोलूगा। तो अब किसी दूसरे राजा के महल में चोरी करने जा रहा था। पहरेदारों ने पूछा कि कहां जा रहे हो? बोला कि चोरी करने। चोरी करने तो जा ही रहा था। पहरेदारों ने कहा कि इसे जाने दो, चोर कहीं ऐसा कहा करते हैं? सबसे पार होकर चोरी भी की और खूब माल लूटा। बाद में सनसनी फैल गई। राजा ने ऐलान किया कि जिसने चोरी की हो, वह पेश हो जावे। राजपुत्र सारा धन लेकर राजा के यहाँ पहुंचा और बोला कि महाराज ! मैंने चुराया। कैसे चुराया? उसने सारी बात बता दी। बोला कि मैंने सत्य बोलने का नियम लिया है, सो सत्य बोलता हुआ चला आया। मैं राजपुत्र हू, मुझे चीज चुराने से कोई मतलब नहीं है, न किसी चीज की मुझे तृष्णा है, किन्तु मुझे चोरी करने में आनन्द आता है। सत्य बोलने से राजा उससे बड़ा खुश हुआ, उसे उत्तराधिकारी बनाया व उसकी चोरी भी छूट गई।

चौर्यपरिणाम में रुद्रता—चोरी में आनन्द मानना एक बड़ा क्रूर आशय बताया गया है। ध्यानों में चार प्रकार के ध्यान हैं—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान।। आर्तध्यान करने वाले की उतनी बड़ी दुर्गति नहीं होती, जितनी बड़ी दुर्गति रौद्रध्यान करने वाले की होती है। आर्तध्यान कहते हैं आर्ति में, क्लेश में ध्यान होना। इष्ट का वियोग होने पर उसके संयोग के लिये ध्यान चलाना आर्तध्यान हुआ। अनिष्ट का संयोग होने पर उसके वियोग के लिये ध्यान बनाना, दु:खी होना अथवा इच्छा करके हैरानी करना—यह सब आर्तध्यान है। इस आर्तध्यान के फल में विशेष दुर्गति नहीं होती, पर रौद्रध्यान के फल में विशेष दुर्गति होती है। हिंसा में आनन्द मानना, झूठ बोलने में आनन्द मानना चोरी में आनन्द मानना और विषयों के संरक्षण में आनन्द मानना रौद्रध्यान है।

रौद्रध्यान की विशिष्टपापरूपता का प्रमाण—रौद्रध्यान पञ्चम गुणस्थान तक सम्भव है, आगे नहीं; किन्तु आर्तध्यान छठवें गुणस्थान में भी सम्भव है। इष्ट का वियोग होने पर दु:ख होना कदाचित् मुनियों के भी हुआ करता है। उनका कोई प्रिय शिष्य कष्ट में हैं तो उनके भी कष्ट हो जाये या कोई प्रतिकूल शिष्य पीछा ही न छोड़ता हो उसके पीछे खेद हो जाना—यह साधुवों के भी हो सकता है, उसका भी थोड़ा ख्याल रहे तो यह छठे गुणस्थान तक हो सकता है। रौद्रध्यानी तो पञ्चमगुणस्थान से आगे ही नहीं पहुंच सकता, बल्कि सम्यक्त्व होने पर भी दृढ़ता से रौद्रध्यान नहीं होता। क्रूरआशय वहाँ भी नहीं होता है। जैसे जिस शरीर का चमड़ा ही छिल दिया गया, वहाँ रोम कहां से ठहरेंगे? यों ही जहां समस्त

परद्रव्यों को अस्वीकार कर दिया गया कि ये मेरे नहीं हैं, मैं तो अपने स्वरूप सत्मात्र हू, अपने आपके अद्वैतरूप हू। यों ध्यान करके जहां समस्त परद्रव्यों का परिहार कर दिया गया है। उपयोग से वहाँ परकीय वस्तु को ग्रहण कर लेना यह कहां सम्भव हो सकता है?

शुद्ध आशय का परिणाम—भैया ! सब लगन की बात है। जिसकी जिस ओर लगन हो जाती है, उसको यही चीज सुहाया करती है। जब तक मिथ्यात्व में वासित हृदय है और परकीय पदार्थों के सञ्चय में लगे हुए है तो वहाँ संसार की ही धुन में लग जाना पड़ेगा। जो अपने आपका सर्व विविक्त, निर्मल अपरिचित केवल अपने आपकी ही जिम्मेदारी में रहने वाले इस आत्मतत्त्व का परिचय पा लेता है, उसके तो घर में बसने वाले स्त्री पुत्रों पर भी मोह नहीं रहता है। अब जो घर में रहते हैं, सारे काम करते हैं, वे गृहस्थ भी कर्तव्य जानकर करते हैं; किन्तु आत्मा में उन समस्त परकीय सञ्चयों के कर्तव्यों में प्रसन्नता नहीं है, अन्तर में लगन तो एक आत्महित की ही पड़ी हुई है। और देखो कि ऐसे सुबोध, प्रबुद्धचेता, ज्ञानी बन जाने पर भी उसके वैभव में फर्क नहीं आता, बल्कि वैभव वृद्धि को ही प्राप्त होता है। कोई धन हाथ पैर पीटने से नहीं आता है, यह तो सब पुण्योदय की बात है और पुण्य का उदय होता है धर्मपालन से, सद्विचार से। जो पुरुष महाव्रत का शुद्ध मन से पालन करता है, उसको इस लोक में भी वैभव का सञ्चय स्वयमेव होता है और परभव में भी देवगति को प्राप्त कर देवों की ऋद्धियों का सुख प्राप्त होता है।

पर से विरक्ति सर्वस्व लाभ—यह वैभव छाया की तरह है। जैसे छाया को पकड़ोगे तो वह दूर भागेगी और छोड़े रहोगे तो पीछे-पीछे ही चलेगी। यों ही इस वैभव को छोड़े रहोगे, विविक्त माने रहोगे तो यह वैभव पीछे चला करेगा और कोई इस वैभव को पकड़ने के लिये बढ़ेगा तो वह वैभव उससे दूर भागा करेगा। देखो कि तीर्थंकरनाथ ने विरक्त होकर सर्ववैभव का परित्याग किया और आत्मसाधना की, अरहंत हो गये, परिग्रह से दूर हुए, उसके फल में अनुपम समवशरण की रचना हुई। उसमें एक गन्धकुटी बनी हुई है, रत्नों का सिंहासन बना हुआ है, इतने ऊपर प्रभु विराज रहे हैं। तो यदि इस वैभव को छोड़े रहोगे तो यह तुम्हारे पीछे-पीछे चलेगा और यदि इसको ग्रहण करने की चेष्टा की तो यह दूर भगेगा। परद्रव्य की अस्वीकारता से, अचौर्यव्रत के पालने से सद्बुद्धि रहती है, संसार कटता है और फिर अन्त में मोक्षपद की प्राप्ति होती है।

गाथा 59

दट्ठूण इच्छिरूवं वांछाभावं णिवत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरियवदं।।59।।

ब्रह्मचर्य में कर्तव्य—व्यवहारचारित्र के प्रकरण में पंचमहाव्रतों में से यह चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत का स्वरूप है। स्त्रियों का रूप देखकर उनमें वाञ्छा परिणाम का न करना अथवा मैथुनसंज्ञा रहित जो परिणाम हैं उसे ब्रह्मचर्यव्रत कहा है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले पुरुष को शील के नव बाड़ों की भी रक्षा करनी चाहिए। कामनीय स्त्रीजनों के मन हरने वाले अंगों का निरीक्षण भी न करना चाहिए। यद्यपि बाह्यपदार्थों के प्रसंग से विकार नहीं होते किन्तु स्वयं के परिणाम से विकार होते हैं, फिर भी विकारपरिणामों के साधनभूत बाह्यपदार्थ हैं। इस कारण चरणानुयोग की पद्धति से बाह्यपदार्थों का प्रसंग भी दूर करना चाहिए।

सुन्दरता का मूल—एक पौराणिक घटना है, एक नगर का राजपुत्र शहर में भ्रमण कर रहा था। उसे किसी सेठ के घर पर एक वधू दिखी, वह रूपवती थी। राजपुत्र के मन में कामवासना जागृत हुई। अब वह न खाये, न पिये, उसही बेवकूफी की धुन में राजपुत्र कष्ट सहने लगा। किसी दासी ने पूछा कि आखिर ऐसा कौनसा कठिन काम है जिस पर तुम इतने उदास हो? कारण पूछा तो राजपुत्र ने बता भी दिया। दासी बोली कि हम इस कार्य की पूर्ति करेंगी। वह सेठ के घर पहुंची। उस वधू से बात कही। वधू सुशील थी। उसने निषेध किया। दासी ने कहा—अच्छा एक बार इस राजपुत्र से वार्ता तो कर लो। ठीक है, कहकर वधू ने समय दिया। वधू ने राजपुत्र से कहा कि तुम 15 दिन बाद हमारे मकान पर पधारना। 15 दिन में उस वधू ने क्या किया कि दस्तों की दवा ली जिससे खूब दस्त लगे। और दस्त एक मिट्टी के मटके में किया करे। 10 दिन में ही वह घड़ा मल से भर गया और उस घड़े के ऊपर रंग-बिरंगे चमकीले कागज आदिक लगाकर उसे बहुत सुहावना बना दिया, अब 15 वें दिन वह राजपुत्र आया तो उसे देखा तो बिल्कुल दुबली पतली, हड्डी निकली और सूरत भी बिगड़ी थी। राजपुत्र देखकर बड़े आश्चर्य में पड़ा। खैर, वह वधू कहती है कि इस शरीर से इन हड्डियों से प्रीति हो तो इन हड्डियों को निरख लो और मेरी सुन्दरता पर तुम मोहित हो तो चलो हमने अपनी सुन्दरता जहां रख दी है, दिखायें। वह ले गयी अपनी सुन्दरता का मूल दिखाने। कहा उस मटके को खोलो—उसके अन्दर सारी सुन्दरता भरी रक्खी है, उस सुन्दरता से तुम प्यार कर लो। जो उसने खोला कि सारा कमरा दुर्गन्ध से भर गया।

संसारी सुभट का पराक्रम—भैया ! क्या है इस शरीर के अन्दर। परन्तु रागभाव का उदय होता है तो कुरूप भी, बदशकल भी इसे सुहावना लगने लगता है। ज्ञान विवेक यदि बना हुआ हे तो ऊचे से ऊचे रूप में भी उसे सब असार ही नजर आता है। क्या है, भीतर से बाहर तक सर्वत्र अपवित्र-अपवित्र ही पदार्थ है। विधि ने तो यह मनुष्य शरीर मानों अपवित्र इसीलिए बनाया था कि यह जीव, यह मनुष्य ऐसे असार शरीर को देखकर ज्ञान और वैराग्य में बढ़ जायेगा, किन्तु देखो इस संसारी सुभट का पराक्रम यह व्यामोही मिथ्यादृष्टि जीव ऐसे अपवित्र शरीर में भी पवित्रता और हितकारिता का अनुभव बनाये जा रहा है।

ब्रह्मचारी की शुचिता व व्यभिचारी की अशुचिता—ब्रह्मचर्य के समान और व्रत क्या है? ब्रह्मचारी पुरुष को सदा पवित्र माना गया है। व्यभिचारी जीव मल-मल कर भी खूब साबुन से नहायें तो भी वे पवित्र नहीं कहे जा सकते। हाँ श्रावकजनों के स्वदार संतोषव्रत होता है। श्रावकजन केवल अपनी विवाहिता स्त्री में ही संतुष्ट रहते हैं और वहाँ भी कामवासना अधिक नहीं रखते। वह कुछ भला है किन्तु पूर्ण पवित्रता पूर्ण ब्रह्मचर्य में है। वेश्यागामी पुरुष को, परस्त्रीगामी पुरुष को सदा सूतक बताया गया है। जैसे धर्ममार्ग में सूतक पातक लगता है जन्म के 10 दिन तक अर्थात् बच्चा जिसके घर में पैदा होता है वह 10 दिन तक भगवान् का अभिषेक न करे, अष्टद्रव्यों से पूजन न करे आदिक कुछ रुकावटें की जाती हैं। साधु को पात्र में आहार दान न दें। ऐसे ही मरणकाल में 12 दिन का पातक लगा करता है और बारहवें दिन के बाद तेरहवें दिन वह शुद्ध हो जाता है। यह तेरहवां दिन साधु को आहार कराने का है जिसे लोग कहते हैं तेरहवीं। वह तेरहवीं तो साधुवों का हक है, पर साधुवों का हक छुड़ाकर पंचों ने अपना हक कर लिया। 12 तक पात्र दान नहीं कर सकता, तेरहवें दिन पात्रदान करेगा। तो जन्म और मरण में 10-12 दिन के ही सूतक पातक होते हैं किन्तु जो व्यभिचारी है, परस्त्रीगामी है अथवा परपुरुषगामिनी स्त्री है, या वेश्यागामी पुरुष है या स्वयं वेश्या है, इनको तो जिन्दगी भर का सूतक पातक है। उनको अधिकार नहीं दिया गया कि वे अभिषेक करें।

गृहस्थों का कर्तव्य स्वदारसंतोष व्रत व अधिकाधिक पूर्ण ब्रह्मचर्य—गृहस्थजनों के स्वदार संतोष व्रत तो नियम से होना चाहिए। स्वस्त्री के सिवाय अन्य किसी स्त्री के प्रति खोटा परिणाम भी न रखना, काम सम्बन्धी यह व्रत तो प्रत्येक गृहस्थ के होना ही चाहिए। न हो यदि यह व्रत तो उससे केवल एक ही नुकसान नहीं है, सारे नुकसान हैं। प्रथम तो उसका चित्त अस्थिर रहेगा क्योंकि परस्त्री दूसरे के अधिकार की स्त्री है उससे छिपकर चोरी-चोरी कहीं अवसर बनाकर कितनी विडम्बनाएं करेगा, उसका चित्त स्थिर नहीं रह सकता। फिर दूसरे कामवासना की अधिकता का बंध है। फिर पिटाई भी लगे, जेल भी जाय, कहो जान भी चली जाय। दूसरे पुरुष को मालूम होने पर वह गम न खायेगा। वह तो जान लेने की सोचेगा। ये सारे नुकसान है और धर्मधारण करने का तो पात्र ही नहीं हो सकता, इसलिए स्वदार संतोषव्रत तो श्रावक के होता ही है, परन्तु स्वदारा में भी ब्रह्मचर्य का घात बहुत कम करे, अधिकाधिक ब्रह्मचर्य का पालन करे। अब इस भादों में सोलह कारण व्रत आयेंगे, ऐसे व्रतों में ब्रह्मचर्य का पालन करें। यह चातुर्मास सम्बन्धी वातावरण भी धर्मपालन के लिए बना है। तो भाद्र मास भर तो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नियम से होना चाहिए।

ब्रह्मचर्य का प्रभाव—भैया ! ब्रह्मचर्य में अनेक गुण हैं—बुद्धि व्यवस्थित रहे, सदा निर्भयता रहे, आत्मसाधन का पात्र हो सके। पंचेन्द्रिय के विषयों में यद्यपि रसना का विषय, घ्राण का विषय, नेत्र का विषय और कर्ण का विषय ये भी विषय ही हैं, किन्तु इन विषयों को अलग से कहा, पाप में नहीं दिखाया और एक स्पर्शन इन्द्रिय का विषय जो कामसेवन है उस कामसेवन को क्यों दिखाया? इसका कारण यह है कि अन्य विषयों के प्रसंग में भी कदाचित् गुणी पुरुषों को होश रह सकता है, विवेक रह सकता है किन्तु कामसेवन के प्रसंग में विवेक का रहना बहुत कठिन है। इस कारण इस कुशील को अलग से पाप में गिनाया गया हैं। 'जहां सुमति तहं सम्पति नाना; जहां कुमति तहं विपति निधाना।' सुमति हमारी बन सके, उसका मूल उपाय तो ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य के घात में हानि की सूचना—किसी कवि ने लिखा है—कोई उपदेश दे रहा था कि ब्रह्मचर्य का पालन करो। किसी ने पूछा महाराज हम ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन न कर सकें तो? अच्छा वर्ष में दो चार दिन छोड़कर बाकी समय तो ब्रह्मचर्य का पालन करो। कोई दूसरा पूछने लगा। इतना भी हम नहीं कर सकते तो? अच्छा एक माह में दो तीन दिन छोड़कर बाकी सब दिन तो ब्रह्मचर्य से रहो और इतना भी न कर सकें तो 10-5 दिन और बढ़ा लो। और इतना भी न कर सकें तो? भाई ऐसा करो कि पहिले बाजार से जाकर कफन खरीदकर ले आवो, अपने घर में धर लो और फिर जो मन में आए सो करो।

ब्रह्मचर्य तप के अभाव में बरबादी—ब्रह्मचर्य के समान तप क्या होगा? वह पुरुष धर्मात्मावों का प्यारा है, भगवान् का भक्त है, मोक्षमार्ग का पथिक है जो ब्रह्मचर्य व्रत का बहुत आदर करता है। देखो और विषयों के सेवन में बल वीर्य नहीं घटता, आत्मबल तो वहाँ भी घटता है किन्तु कुशील सेवन में शक्ति भी घटे और अनेक विपत्तियां भी आयें। चलो भोजन किया बढ़िया रसीला खाया, रस खाया, शरीर पुष्ट होगा, थोड़ा मान लो, पर कुशीलसेवन से लाभ कौनसा मिला? शरीरबल भी घटा, और दो चार मिनट के कामसेवन के ध्यान में रहकर दो चार घंटे भी बरबाद किये, दिमाग बिगड़ गया, कर्म बंध भी विकट हो गया, सारे नुकसान ही है। फिर भी यह व्यामोही जीव अपनी बरबादी को नहीं देखता है और मूढ़ता के ही कार्य करता है। ब्रह्मचर्य को परम तप बताया गया है। और तप ही क्या, जितने भी गुण हैं, तप, आत्मतेज, धन, बल सब

कुछ इस ब्रह्मचर्य पर आधारित हैं। मनुष्य को सत्संग का बड़ा ध्यान रखना चाहिए। कभी ऐसी खोटी गोष्ठी में न रहें जिस गोष्ठी में रहकर इसका ध्यान बिगड़े, खोटी बातों की ओर चित्त जाय।

खोटी गोष्ठी का असर—पूर्व काल में एक चारुदत्त सेठ हो गये हैं, वे बड़े नम्र विनयी धर्मात्मा थे। चारुदत्त जब कुमार थे, छोटी उम्र के थे, किशोर अवस्था के थे तब शादी हो गयी, परन्तु स्त्री के साथ रहें ही नहीं। कुछ जानते भी न थे, इतना प्राकृतिक सुशील थे। लोग बड़े हैरान हुए कि इस चारुदत्त को काम की वासना कैसे जगे, इनमें काम की प्रकृति कैसे आये? बहुत उपाय किया घर में, पर कुछ सफलता न मिली। तो सलाह करके चारुदत्त के चाचा ने ऐसा सोचा कि इसे वेश्यावों की गली में से ले जाया जाये, और सामने से एक दुष्ट मदोन्मत्त हाथी को छोड़ा जाय तो उस विपत्ति के प्रसंग में इसे वेश्या के घर ले चलेंगे। वेश्याएं तो बड़ी नटखट होती हैं, इसे वश कर लेंगी। ऐसा ही किया। एक सकरी गली में चारुदत्त को ले गए और सामने से एक हाथी छुड़वा दिया। चारुदत्त और चाचा दोनों वेश्या के घर पहुंचे। चाचा को कोई प्रयोजन न था, चारुदत्त को मात्र फंसाने का भाव था। वेश्या जुवा की चीज सामने रखकर कहने लगी, चाचा जी खेलिये ना, चाचा जी चौपड़ खेलने लगे। चारुदत्त बैठ गया। उसने भी सीख लिया, चारुदत्त से कहा कि तुम भी कोई गोट फैंको, लगावो अपने दाव में, तो थोड़ा उसे भी खिलवाया। इतने में चाचा तो कोई बहाना करके थोड़ी देर को घर से निकल गये और यहाँ चारुदत्त की बुद्धि खराब हो गयी ! उस वेश्या की लड़की ने उसे प्रेमालाप किया और ऐसा संकल्प किया कि हम तुम्हारे सिवाय अन्य किसी पुरुष के साथ प्रीति न रक्खेंगी। इस तरह से वह फंस गया। घर आता रहा और जाता रहा। और जितना भी घर में धन था सब चारुदत्त ने बरबाद कर दिया। फिर अंत में उनका सुधार हुआ, त्याग हुआ, सब कुछ हुआ, पर देखो तो सही कि जिसको कुछ भान भी न था, जानता भी न था, बड़ा सुशील पुरुष था, वह भी खोटी संगति में आकर अपने पद से च्युत हो गया।

शीलभाव की निर्मलता—महाराज सुनाया करते थे कि एक गरीबिनी के 2 लड़के बनारस में पढ़ रहे थे। बोर्डिंग हाउस में रहते थे मुफ्त ही पढ़ते थे। वे गरीब थे, वे दोनों एक ही बिस्तर में सोते थे। एक ही साथ पढ़ते थे। बड़े बुद्धिमान् थे। तो कई वर्षों तक खूब पढ़ा। बाद में बड़े लड़के की शादी हो गयी, घर रहे, पर कुछ जाने नहीं खोटी बात को। तो बहू ने ननद को कहा, ननद ने मां को कहा, मां ने कहा कि बेटा तुम्हें उसी कमरे में रहना चाहिए। क्यों मां? अरे बेटा वहाँ रहा ही जाता है। एकांत कमरे में ही रहना चाहिए और एक ही संग सोना चाहिए। उससे क्या होता है? अरे उससे संतान होती हैं, कुल चलता है, तो लड़का बोलता है कि मां तू बड़ी झूठी है। अरे एक साथ सोने से बच्चे हों तो 5-7 वर्ष हम दोनों भाई बनारस में एक साथ सोये तो अभी तक बच्चे क्यों न हुए? तो देखो वह बालक कितनी निर्मलता से भरा हुआ था। सिखाते-सिखाते भी खोटी बात न आने पाये, ऐसे पुरुष भी हुआ करते हैं।

ब्रह्मचर्य की पवित्रता से नरजन्म की सफलता—ब्रह्मचर्य से बढ़कर और पवित्रता किसे मानते हो? साधुजन ब्रह्मचर्य की मूर्ति हैं और इसी कारण वे स्नान भी नहीं करते तो भी उनका शरीर पवित्र माना जाता है और पूजा जाता है। जीवन में एक इस ब्रह्मचर्य का अधिकाधिक पालन करो। इससे नर-जन्म की सफलता पायेंगे। नहीं तो यह समय गुजर जायेगा, मरणकाल निकट आ जायेगा। गुजर गए, किन्तु ब्रह्मचर्य की साधना न कर सके, उस मलिनता के परिणाम में वश कर जीवन खो दिया तो क्या लाभ पाया? जिनकी आयु अधिक है, जो 40, 50 वर्ष के हो गए, ऐसे गृहस्थजनों को तो मय स्त्री के आजन्म व्रत ले ही लेना चाहिए। कौनसी कठिनाई है, उससे लाभ अनेक हैं, और जो युवकजन हैं उनको भी पर्वों

के दिनों में अष्टमी, चतुर्दशी, दशलाक्षणी, अष्टाह्निका, तीनों में ऐसे पर्वों में ब्रह्मचर्य का नियम रखना और साथ ही महीना में तीन, चार दिन की छूट रखकर बाकी सब दिनों में ब्रह्मचर्य व्रत रखना चाहिए और गर्भ धारण के बाद जब तक बालक दो वर्ष का न हो जायें, 1।। वर्ष का न हो जावे तब तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। अपने कर्तव्य से चूके तो वहाँ केवल अपना ही अनर्थ नहीं किया गया, दूसरे का भी अनर्थ किया । फिर कामसेवन में तत्त्व क्या निकला? क्या मिल गया? धनी बन गये अथवा शरीरबल बढ़ गया? बल्कि उनका भी नुकसान, शरीरबल का भी नुकसान और आंतरिक ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मदेव से भी हाथ धोया। सारे नुकसान ही होते हैं।

दीनवृत्ति—इस कल्पित विषयसुख के सम्बन्ध में क्षत्रचूड़ामणि में यह लिखा है कि इस विष्टा, मल, मूत्र आदिक से वेष्टित इस चर्म के साथ यह बराक दीन प्राणी कामसेवन करता हुआ, अपने को सुखी मानता हुआ गड्ढे में, बरबादी में गिरा रहा है, इसकी इसे खबर भी नहीं है। कामनियों में किसी प्रकार का कौतूहल न करे हसी मजाक भरी बात न बोले, चित्त में उनकी वाञ्छा न रखे और ब्रह्मचर्य का पालन करे।

गृहस्थ का ब्रह्मचर्याणुव्रत में ही भला गुजरा—भैया !एक बात और जानियेगा कि जो स्त्री अच्छी है, कुलीन है, रूपवती है, वह स्त्री तो किसी परपुरुष को चाहती भी नहीं है। जो चाहने वाली होगी परपुरुष को, वह अनेक अवगुणों से भरी हुई होगी। रूप भी उत्तम नहीं होता है कुशील स्त्री का भाव परिणाम भी ऊचा नहीं होता। आकर्षण हुआ करता है तो गुणों के साथ हुआ करता है। कोई बालक काला भी हो, थोड़ा गन्दा भी रहता हो, किन्तु विनयशील हो, क्षमावान् हो, आपकी सेवा करे तो आपको वह बालक कितना प्रिय लगता है और कोई बालक रूप का बड़ा सुन्दर हो तो उस रूप को खाना थोड़े ही है; जबकि वह गाली बोलता है, छल कपट करता है और आपका नुकसान किया करता है, गुस्सा भी हो जाता है तो ऐसा बालक आपको सुहायेगा क्या? नहीं सुहायेगा। तो गुणों के साथ लौकिक बातों का भी आकर्षण चलता है। जिसमें गुण होंगे, उसके साथ तो कामवासना का सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। परस्त्री या परपुरुष की बात कह रहे हैं कि जिससे कामवासना का सम्बन्ध बन जाये वह अवगुणों से भरा हुआ होगा, वह आकर्षण के योग्य नहीं है। इसलिए एक यह निर्णय रखना कि गृहस्थजन स्वदारसंतोष व्रत का पालन करें और जिनके स्त्री नहीं है, वे गृहस्थजन पूर्ण ब्रह्मचर्य का अन्तरङ्ग से पालन करें।

ब्रह्मचर्य परमदेवता—यह ब्रह्मचर्य व्रत उत्तमता से वहाँ होता है कि पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद नाम की जो कषायें हैं, उनके तीव्र उदय में जो मैथुन संज्ञा के परिणाम होते हैं, उनका त्याग जहां रहे। पवित्र परिणाम जहां रहता है, वहां काम का भाव ही न रहे तो ऐसे सन्त पुरुषों में ब्रह्मचर्य व्रत होता है। इस ब्रह्मचर्य व्रत की पूजा करें, इसका आदर करें। जैसे कि अहिंसाव्रत हमारे आदर के योग्य है ऐसे ही ब्रह्मचर्यव्रत हमारे आदर करने के योग्य है। अहिंसा को देवता का रूप कहा है, अहिंसा को ब्रह्म कहा है। अहिंसा नाम में तो ब्रह्म लगाना पड़ा, पर ब्रह्मचर्य में तो ब्रह्म शब्द पहिले से ही लगा हुआ है। अत: ब्रह्मचर्य परमब्रह्म है।

परमार्थ आचरण—भैया !ऐसी वृत्ति रखो कि तुम्हारे व्यवहार को देखकर दूसरे जन भी ब्रह्मचर्य व्रत में उत्साही हों। शुद्ध मन से अपने ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का आदर करें और यह मन में परिणाम रक्खें कि मुझे तो इस निज ज्ञानस्वरूपब्रह्म में रमना है। यही है परमार्थ उत्तम ब्रह्मचर्य। जहां मेरा यह काम पड़ा हुआ है कि मुझे अपने आत्मा के स्वरूप में लीन होना

है, ऐसा काम का उद्देश्य करें, वहाँ किसी परपुरुष या परस्त्री का रूप देखने का मन में खोटा परिणाम न करें। ब्रह्मचर्य से सब कुछ लाभ होगा, सो अधिकाधिक ब्रह्मचर्य का पालन करें, इसमें ही हित है।

शुद्ध आशय बिना वचनों से क्या लाभ?—जैसे यश, नाम, कीर्ति की चाह न रखनी चाहिये—ऐसे ही उपदेश करके कोई यश और नाम की चाह का ही उद्देश्य बनाये और लोग कहें कि वाह, कितना वैराग्यपूर्ण उपदेश इसने कहा है? ऐसे यश की चाह की मन में भावना रहे और उस भावना से ही प्रेरित होकर दुनिया को यश न चाहना चाहिए, यश बुरी चीज है आदिक। इस प्रकार के उपदेश करे तो उसका उपदेश उसके लिये कोई लाभ देने वाला नहीं है। इस ही प्रकार कामनियों की शरीर विभूति को, वैराग्य दिलाने वाली बात को सुने और सुनते हुए स्त्रियों के शरीर वैभव का ही स्मरण रखे अथवा ब्रह्मचर्य की चर्चा में और देहरूप से वैराग्य होने की चर्चा करते हुए में स्त्रियों के मनोहर अंगों का स्मरण किया करे तो उस चर्चा से और श्रवण से लाभ क्या हुआ? अरे ! लाभ तो कुछ भी नहीं हुआ।

वास्तविक लाभ की दृष्टि—हे मुमुक्षु आत्मन् ! तू एक शाश्वत् अनादि अनन्त नित्य प्रकाशमात्र इस कारण सहजपरमात्मतत्त्व की उपासना छोड़कर अत्यन्त असार क्षणिक सुख के लिये जो कि कल्पितमात्र है, इस क्षणिक मायास्वरूप देह के क्यों व्यामोह को प्राप्त होता है? वास्तविक लाभ वहाँ होता है, जहां अन्तरङ्ग से सर्वथा पूर्ण दृढ़तापूर्वक कामवासना का परित्याग करे और एक निजज्ञायकस्वरूप दर्शन की धुनि बनाये, वही वास्तविक योगी है, वही परमहस है। जैसे लोक में कहते हैं कि परमहस संन्यासी बाह्य बातों से बेखबर रहते हैं। कोई जबरदस्ती खिलावे तो खाये। कहां पड़े हैं, क्या हो रहा है? कुछ सुधि नहीं है। वह अपने ब्रह्मस्वरूप के अवलोकन में ही लीन रहा करते हैं। ऐसी उत्कृष्ट अवस्था जहां है, निज शुद्ध ज्ञायक स्वरूप के ही अनुभव में चित्त रमा करे, ज्ञान बसा करे—ऐसे योगी संत ही परमार्थ ब्रह्मचर्य की मूर्ति हैं।

दृढ़ सत्संकल्प—भैया ! दृढ़ता के साथ संकल्प करें कि कामवासना सम्बन्धी बातें, दुर्भाव सम्बन्धी बातें अपने में न आने दें—ऐसी दृढ़ साधना के साथ ब्रह्मचर्यव्रत का पालन साधु-संत-महन्तों के होता है। सर्व व्रत तप साधनाओं का मूल यह ब्रह्मचर्यव्रत है। कल्पना करो कि कोई पुरुष ब्रह्मचर्यव्रत का तो पालन नहीं करता, किन्तु परस्त्रीगमन, वेश्यागमन आदि बहुत चस्के लगे हैं और वह धर्मकार्य में आगे-आगे बढ़े, पूजन, विधान, समारोह, यज्ञ, मन्त्र, होम, पूजा आदि सब करे तो बताओ तो सही कि उन सब कर्तव्यों का वहाँ पर क्या अर्थ है? और एक पुरुष ब्रह्मचर्य का सच्चा पालक है, स्वप्न में भी कामवासना जागृति नहीं होती है, ऐसा पुरुष तो स्वत: ही धर्मात्मा है।

शुद्ध आशय की भावना—धर्म तन-मन-वचन की चेष्टा से नहीं हुआ करता है। धर्म तो आत्मा के शुद्ध आशय में है। ऐसी प्रार्थना करे आत्मप्रभु से, परमार्थप्रभु से कि हे नाथ ! और चाहे जितने संकट आ जायें, पर चित्त में दुर्भाव उत्पन्न न हों। शुद्ध ज्ञायकस्वरूप निजब्रह्म में आचरण करने का नाम परमार्थ ब्रह्मचर्य है। इस परमार्थ ब्रह्मचर्य की साधना के लिये जो शीलव्रत अंगीकार किया गया है, वह ही ब्रह्मचर्य महाव्रत है। अब इस ब्रह्मचर्य महाव्रत के वर्णन के बाद परिग्रह त्याग महाव्रत का स्वरूप कह रहे हैं—

गाथा 60

सव्वेसिं गंथाणं तागो णिरवेक्खभावणापुव्वं।
पञ्चमवदमिदि भणियं चारित्तभरं वहंतस्स।।60।।

परिग्रहत्याग की निरपेक्षतापूर्वकता—निरपेक्षभावना पूर्वक समस्त परिग्रहों का त्याग करना, इसका नाम है परिग्रहत्याग महाव्रत। जब तक निरपेक्ष वृत्ति न जगेगी, तब तक परिग्रहत्याग सच्चे मायने में नहीं हो सकता। कोई पुरुष इस उद्देश्य से कि साधु संतों का आदर होता है, इसलिए घर को छोड़कर परिग्रह का त्याग करके साधु बन जाना चाहिए तो क्या वह परिग्रह त्यागी है? भले ही घरद्वार छोड़ दे, धन वैभव छोड़ दे, किन्तु लोक में मेरा सम्मान भी हो और बड़े आराम से जीवन भी चले, यह जहां लक्ष्य होता है वह तो महापरिग्रह पाप है।

अन्तरङ्गपरिग्रहत्याग में वास्तविक निष्परिग्रहता—इस पौद्गलिक परिग्रह ने क्या कसूर किया है? वह तो रूपी पदार्थ हैं, कुछ आपसे बोलते चालते भी नहीं हैं। इन जड़ पदार्थों के त्याग से परिग्रहत्याग नहीं कहलाता, किन्तु चित्त में किसी भी परतत्त्व की वाञ्छा न करने से परिग्रहत्याग कहलाता है। इसी कारण परिग्रह के 24 भेद बताये हैं। 10 तो बाह्य परिग्रह है और 14 अंतरङ्ग परिग्रह हैं। बाह्यपरिग्रहों का त्याग आभ्यंतर परिग्रह से निवृत्त होने के लिए है, और आभ्यंतर परिग्रह का त्याग ही वास्तविक परिग्रहत्याग है। यों तो कोई कहे कि हमारी थाली में जो भोजन न परसा जाय उसका मेरे बिल्कुल त्याग है, अरे अन्तर की कल्पना का त्याग है तो त्यागी है। चित्त में तो बना है कि अमुक चीज कितनी अच्छी बनी है और चौके में भी रक्खी है, ये लोग परोसते क्यों नहीं हैं? अरे अंतरङ्ग में तो कल्पना की उड़ाने चलें तो वहाँ कैसे त्यागी कहला सकेगा?

त्याग का प्रयोजन—भैया ! त्याग किया जाता है अपने आपके ज्ञान सुधारस को छककर पीने के लिए, आनन्दमय होने के लिए। त्याग का प्रयोजन कष्ट नहीं है, त्याग का प्रयोजन शुद्ध आनन्द का अनुभव करना है। यों समझिये कि मामूली चीज रखने से यदि बड़ी चीज का अलाभ होता है और मामूली चीज के छोड़ने से बड़ी चीज का लाभ होता है तो विवेकी पुरुष इस मामूली चीज को छोड़ने में जरा भी न हिचकेंगे। ज्ञानी संत की ऐसी ही वृत्ति है। ये जगत् के विषय सुख अत्यन्त असार और पतन के कारण है। परिग्रह की ममता में जकड़ना, किसी स्त्री एवं पुरुष के स्नेह में बंध जाना, ये सारी बातें बरबादी की ही हैं। लाभ कुछ नहीं होता।

ज्ञानियों का अन्तर्बल—ज्ञानी पुरुषों में अंतरंग में अपूर्वबल होता है। जैसे कि ज्ञानी पुरुष देवांगनावों के रूप को निरखकर अपनी वृत्ति से शुद्ध भावों से चलित नहीं होता है ऐसे ही ज्ञानीपुरुष दूसरे के करोड़ों और अरबों के वैभव को देखकर चलित भी नहीं होते, आश्चर्यचकित भी नहीं होते, क्योंकि वे जानते हैं कि इन्होंने इतनी धूल लपेट रक्खी है। रत्न जवाहिरात अमूल्य चीजें इनके पास हैं—इस दृष्टि से वे ज्ञानी नहीं निरखते हैं। क्या होगा उन अमूल्य जवाहरातों से? प्रयोजन तो जीवन में दो रोटियों का है। इतना सारा नटखट परिग्रह ये सब किसलिए रख रहे हैं धनी पुरुष? वे तो इस जगत् देवता को प्रसन्न करने के लिए धन वैभव बढ़ा रहे हैं। ये मायामय लोग हाड़ मांस नाक कान वाले लोग मेरी बढ़ाई कर दें , इतनी तुच्छता के लिए इस जीवन में धनसंचय करने का बेजोड़ परिश्रम किया जा रहा है। रहेगा अंत में कुछ नहीं।

निरपेक्षता में ही कल्याण—निरपेक्ष वृत्ति ही परम अमृत है। परपदार्थों से निरपेक्षता का भाव जगे तो परिग्रह का त्याग बन सकता है अन्यथा नहीं। बड़े लोग निरपेक्ष वृत्ति तो रखते नहीं और अपनी इज्जत बढ़ाने के लिए अथवा जीवन में अच्छे भोजन का लाभ लेने के लिए परिग्रह का त्याग कर देते हैं उन्हें आजीवन शांति नहीं मिल पाती, क्योंकि जैसा उद्देश्य बनाकर काम किया जाय उसके अनुसार अन्तर्भावना बना करती है। और, निरपेक्ष वृत्ति वाले पुरुष तो यह चाहते हैं कि

लोगों का जमघट मेरे पास न रहे, लोगों के द्वारा की जाने वाली बढ़ाई मेरे सुनने में मत आये। वे तो अपने आपमें अत्यधिक एकांत चाहते हैं। परिग्रह केवल पैसे का ही नहीं है किन्तु आत्मस्वभाव के रमण के अतिरिक्त अन्य कुछ चाह करना वह सब परिग्रह के अन्तर्गत हैं। मूर्छा परिग्रह है, बेहोशी का नाम परिग्रह है, ममता परिणाम के न होने को, निरपेक्षता के होने को निष्परिग्रहभाव कहा गया है।

निरपेक्षता का यत्न सम्यक् अवबोधन—भैया ! जैसे निरपेक्षता जगे उस कार्य के यत्न में अधिक लगना चाहिए। निरपेक्षता का प्रतिपक्षी है सापेक्षता अर्थात् परपदार्थों की अपेक्षा बनाए रखना, परपदार्थों की अपेक्षा तब बनायी जाती है जब यह ख्याल हो कि मेरा बड़प्पन, मेरा जीवन, मेरा सुख, मेरा सब कुछ भला होने की बात परपदार्थों के आधीन है, ऐसा मन में ख्याल हो तो परपदार्थों की अपेक्षा रक्खी जाती है। यदि निरपेक्षता चाहते हो अर्थात् परपदार्थों की अपेक्षा न रहे, ऐसी स्थिति चाहते हो तो सम्यग्ज्ञान बनाना आवश्यक है।

अवबोध्य यथार्थस्वरूप—प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से सत् है अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से ही वह है, किसी अन्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं है। जगत् में अनन्तानन्त तो जीव हैं। जैसे हम आप एक-एक मनुष्य हैं, पशु-पक्षी एक-एक जीव हैं, कीड़ा, मकोड़ा, वनस्पतियां ये भी अनन्तानन्त हैं। अनन्तानन्त तो जीव हैं और जीवों से अनन्तानन्त गुणे पुद्गल हैं, परमाणु हैं, क्योंकि सिद्धों से अनन्तगुणे तो ये संसारी जीव हैं, और एक-एक संसारी जीव के साथ अनन्तानन्त कर्म परमाणु बंधे हैं और अनन्तानन्त ऐसे कार्माण परमाणु भी लगे हुए हैं जो अभी कर्म रूप तो नहीं हुए किन्तु कर्मरूप हो सकेंगे और फिर शरीर में अनन्त परमाणु हैं। एक जीव के साथ अनन्त परमाणु हैं। तब समझ लीजिए कि जीवों से अनन्तानन्तगुणे पुद्गल हुए या नहीं? एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य। ये समस्त प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वरूप में हैं, अपने स्वरूप से ही परिणमते हैं, फिर मेरा अन्य वस्तु पर क्या अधिकार? किसी अन्य वस्तु का मेरे पर क्या अधिकार? सर्व स्वतंत्र हैं।

किसी पदार्थ के द्वारा परपदार्थ के कर्तृव्य का अभाव—भैया ! किसी भी पदार्थ का काम किसी अन्य पदार्थ के द्वारा नहीं चलता। मेरा भी कार्य किसी अन्य पदार्थ के द्वारा नहीं चलता। कुछ मान भी लीजिए कि निमित्तनैमित्तिक भावों की दृष्टि से वो कोई परपदार्थ मेरे किसी कार्य में निमित्त होता है तो वह विभाव के कार्य में निमित्त होता हैं, मेरे हित में निमित्त नहीं होता है। तब किसकी अपेक्षा करना? ऐसी निरपेक्ष वृत्ति का आत्मा जिसका हो उस ज्ञानी संत के ही त्याग कहा जाता है।

निरपेक्षवृत्ति का एक प्रसिद्ध पौराणिक उदाहरण—निरपेक्ष वृत्ति का पुराण में एक उदाहरण है। यद्यपि भरत चक्रवर्ती के परिग्रह का त्याग न था तो भी सम्यग्दर्शन के प्रकाश के कारण उनके अन्तर में बहुत ऊंची निरपेक्ष वृत्ति थी। एक बार किसी जिज्ञासु ने मंत्री से प्रश्न किया कि लोग यह कहा करते हैं कि भरत जी घर में भी विरागी हैं, यह कैसे हो सकता है? तो उनको इसका प्रमाण कराने के लिए उपाय किया। भरत चक्रवर्ती के मंत्री बोले कि तुमको यह तेल से भरा कटोरा दिया जाता है, इसे हथेली में रक्खे हुए चक्रवर्ती के सारे वैभव को देख आवो और झूठमूठ पहिले से सीखा दिया था, सो पहरेदारों से कहा—देखो तुम चार पहरेदार इस जिज्ञासु मनुष्य के चारों ओर चलकर इसे चक्रवर्ती के सारे वैभव को दिखा लाना, और देखो एक भी बूद तेल अगर कटोरे से गिरे तो इनका सिर उड़ा देना। गये वे तेल का कटोरा लिए हुए, चक्रवर्ती का सारा वैभव देख आये और वापिस आ गये। मंत्री ने पूछा—बोलो भाई तुम घुड़शाला में गये थे? हाँ गये थे। कितने घोड़े हैं और कैसे घोड़े हैं? बोला यह कुछ हमें पता नहीं है। हमें तो इतना ज्ञान है कि अश्वशाला में गये और

तुम अंत:पुर में भी गये थे, रानी के महलों के मुहल्ले में? हाँ वहाँ भी गये। बतलावो कैसे महल हैं, कैसी रानियां थी? बोला—यह मुझे कुछ पता नहीं। इतना सामान्य ज्ञान है कि हम रानियों के महल में भी गये थे। क्यों जी तुम्हें सारी बातें विशेष क्यों नहीं मालूम? जिज्ञासु बोला कि मेरा सारा ध्यान इस तेल के कटोरे पर था कहीं बूंद न गिर जाय, नहीं तो मेरी जान चली जायेगी। तो मंत्री ने समझाया कि भरत चक्रवर्ती का ध्यान केवल एक आत्महित में लगा रहता है, संसार की असारता और निज आत्मस्वरूप की सर्वस्वसारता इनके ध्यान में बसा करती है। उदय है पुण्य का, 6 खण्ड की विभूति है, सो उसमें पड़े हुए हैं, किन्तु ध्यान इनका हित की ओर है और ऐसा होता है। तभी तो कोई-कोई बड़े-बड़े राजा महाराजाधिराज चक्री सारे वैभव को एक बार में ही सर्वथा छोड़कर एक इस निर्ग्रन्थव्रत में उपयोगी हुए हैं।

आनन्द का स्रोत निज के अन्तर में—भैया ! जो आनन्द अपने आपकी उपासना में हैं, वह कहीं बाहर है क्या? धन वैभव को जोड़ने की मन में चिंता कल्पना बनाना यह तो बिल्कुल उचित नहीं है। गृहस्थों का क्या कर्तव्य हैं? कर्तव्य को जानकर समय पर उस कर्तव्य को कर लें। क्या होगा? जो होगा सब ठीक होगा। जो समागम होगा, उसमें ही गुजारा होगा। पर मैं इतना वैभव सञ्चित कर डालू तो ऐसी कल्पना मन में मत लाओ, कर्तव्य करो। कल्पना बना लेने से धन नहीं बढ़ जाता है। वह तो आपके थोड़े श्रम से भी साध्य है, यदि सब कुछ अनुकूल वातावरण है तो। सबसे अधिक भावना होनी चाहिये इसकी कि मैं अपने उस सहजज्ञानस्वरूप को ज्ञान में रक्खू और समस्त परतत्त्वों और परभावों का विकल्प छोड़ दू—ऐसी स्थिति बने, ऐसे अनुभव के लिये ध्यान रहना चाहिये। मुख्य बात तो इस जीवन में यह है। यह उसी ज्ञानी सन्त के बात बन सकती है, जो निरपेक्ष वृत्ति का आदर किये हुए हो।

अकिञ्चन की छाया में समृद्धि—एक जगह धनञ्जय सेठ ने स्तवन करते हुए कहा कि हे भगवन् ! तुम अकिञ्चन हो, तुम्हारे पास कुछ नहीं है, न घर है, न स्त्री है, न कुटुम्ब है, न पैसा है, तुम अकिञ्चन हो, लेकिन अकिञ्चन होने पर भी आपसे जो लाभ हो सकता है, वह बड़े-बड़े समृद्धिशाली पुरुषों से भी नहीं हो सकता है। वह कैसे? इसका एक उदाहरण दिया कि ये पर्वत ऊपर से देखो तो इन पर जल की एक बूंद नहीं है; बिल्कुल तपते हैं, पैर जलते हैं उन पर चलने से। ये पर्वत जल की ओर से शून्य हैं, अकिञ्चन हैं, कुछ भी इन पर नहीं है, लेकिन नदियां निकलती हैं तो पर्वतों से ही निकलती हैं। समुद्र जल से लबालब भरा हुआ है, किन्तु उसमें से एक भी नदी नहीं निकलती। यों ही हे नाथ ! आप अकिञ्चन हो, किन्तु आपसे जो लाभ हो सकता है, वह लोक में समृद्धिशाली पुरुषों से भी नहीं हो सकता है।

आकिञ्चन्य का अवलोकन और प्रयोग—जरा और भी अन्तरङ्ग में प्रवेश करके देखो कि हम और आप सबका भी आत्मा अकिञ्चन है, इसमें न घर लिपटा है, न कुटुम्ब चिपका है, न देह चिपटा है, यह तो ज्ञानस्वरूप एक चैतन्यतत्त्व है, अकिञ्चन है। इस अकिञ्चन ज्ञानमात्र आत्मा की उपासना से जो आनन्दलाभ हो सकता है वह आनन्द क्या किसी भी धनवैभव या अन्य किन्हीं लोगों के स्नेह से हो सकता है? नहीं हो सकता है अनुभव करके देख लो। जब आखिर सब कुछ छोड़कर ही जाना है तो जीवन में इतनी सद्भावना क्यों न बना ली जाय कि जिसे हम छोड़कर जायेंगे वे सभी चीजें तो अभी भी छूटी हुई हैं, मेरे से चिपटी नहीं हैं। ऐसे शुद्ध दृष्टि रहे तो समझियेगा कि उससे मैंने लाभ पाया।

निरपेक्षता व परिग्रहत्याग का प्रयोजन आनन्द—निरपेक्ष भावना पूर्वक समस्त परिग्रह का त्याग हो तो वह चारित्रधारी साधु का पंचम महाव्रत कहलाता है। यह व्रत होता है उन ज्ञानीसंत पुरुषों के, जो निज कारण परमात्मस्वरूप में ठहर गए हैं, उनके परिग्रहत्याग होता है। यहाँ भी त्याग की बात मुख्य नहीं है, मुख्य बात है आनन्द पाने की। आचार्यदेव आपसे कुछ

त्याग करवाना नहीं चाहते। वहाँ उपदेश है कि तुम अनन्त आनन्द प्राप्त कर लो जिस विधि से बने। अनन्त आनन्द का अभ्यास यह स्वयं आत्मस्वरूप है, सो आत्मस्वरूप में आपकी प्रखर दृष्टि हो जाय तो आपका कल्याण ही गया जानिये। अब आत्मस्वरूप की प्रखर दृष्टि में पैसा चिपक सके तो चिपकाये रहो। त्याग कराने की बात की मंशा नहीं है। मंशा है आत्मीय परम शुद्ध आनन्द की प्राप्ति कराने की। चाहिए क्या? जैसे कहते हैं कि आम खाना कि पेड़ गिनना। अरे तुम्हें आनन्द चाहिए है कि श्रम चाहिए है? आनन्द चाहिए तो आनन्द के पथ को देखो, शुद्धज्ञान स्वरूप को निहारो।

निष्परिग्रह स्वभाव का आलम्बन—भैया !स्वयं ही आनन्दस्वरूप है इस आत्मदेव को बाह्य में कहां खोज रहे हो? जब तक चित्त में ऐसा साहस न होगा कि मेरा तो एकाकी शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, यदि बाहर की चीजें छूटती हैं तो छूटने दो। बड़े-बड़े पुरुषों ने जान-जानकर परिग्रह को छोड़ा और हमारा किसी कारण से छूट जाता है तो वह तो मेरे लिए भली बात है। जितना बोझा कम हो उतना ही भला है, इस कारणसमयसारतत्त्व की दृष्टि के विधान में समस्त परिग्रहों का त्याग तो स्वयं ही बना हुआ है। यों स्वरूप में अवस्थित रहने वाले योगी संतों के यह परिग्रहत्याग महाव्रत होता है जिसके फल में अनन्त सुख प्राप्त होता है।

परिग्रहत्याग में मुक्ति की परम्परया कारणता—जो संयमी पुरुष निश्चयव्यवहारात्मक विशुद्ध चारित्र के धारण करने वाले हैं उनके बाह्य और आभ्यंतर 24 प्रकार के परिग्रहों का त्याग है। वह परिग्रहत्याग महाव्रत परम्परा से मोक्ष का कारण है। मोक्ष का साक्षात् कारण 14 वें गुणस्थान का परिणाम है। जिस समय के बाद जो सिद्ध हुई है उस सिद्धि से प्रथम क्षण में जो स्थिति होती है वह उसका कारण कहलाता है और फिर नीचे का 13 वां 12 वां गुणस्थान कारण है, क्षपकश्रेणी कारण है, जिस पर चढ़ने का नियम हो जाता है कि यह अवश्य मोक्ष जायेगा। क्षपकश्रेणी के 8 वें गुणस्थान का परिणाम उपशम श्रेणी के 8 वें गुणस्थान से अधिक विशुद्ध बताया गया है। क्षपकश्रेणी भी मुक्ति का कारण है। उसके पहिले गुणस्थानों का ऐसा नियम नहीं है कि इस गुणस्थान के पाने के बाद इस ही भव से नियम से मोक्ष होगा। कहो 7 वें गुणस्थान तक आ जाने पर भी गिरे और पहिले गुणस्थान में पहुंच जाय गिरते-गिरते और वहाँ कितने ही सागरों पर्यन्त, कुछ कम अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकाल तक यह जीव वहाँ रुक सकता है। इस कारण परिग्रहमहाव्रत को कहा गया है कि यह परम्परा से कारण है।

परिग्रह का लक्षण—परिग्रह शब्द का अर्थ है 'परि समन्तात् गृह्णाति इति परिग्रहः' जो इस जीव को चारों ओर से जकड़ ले, उसको परिग्रह कहा है। सो देख लो परिग्रह का यह काम है। एक किम्वदन्ती में कहते हैं कि गुड़ भगवान् के पास गया, विनती की कि महाराज हम बड़े दुःखी हैं। क्या दुःख है? हम जब खेत में खड़े थे गन्ने के रूप में खड़े थे तब लोगों ने हमें उखाड़-उखाड़कर खूब खाया, वहाँ से बचे तो कोल्हू में पेलकर रस निकालकर खाया। वहाँ से बचे तो कड़ाही में पकाकर राब बनाकर हमें खाया, गुड़ बनाकर खाया, और गुड़ से भी बचे मुझे किसी ने न खा पाया, मैं सड़ भी गया तो भी लोगों ने तम्बाकू में मिला-मिलाकर खाया तो महाराज मेरे कष्ट दूर करो। तो ऐसे ही किम्वदन्ती के भगवान् होंगे। सो भगवान् बोले कि तू सामने से इसी समय हट जा, यही तेरा न्याय है। क्यों महाराज ये कैसा न्याय है? बोले कि तेरी बातें सुनकर तो मेरे मुख में पानी आ गया। यहाँ भी तेरी कुशल नहीं है।

परिग्रह की जकड़—परिग्रह इस जीव को ऐसी कठिनता से जकड़े हुए है कि यह जीव हिल डुल नहीं सकता। बाह्यपदार्थ इस जीव को नहीं जकड़े है? आभ्यंतर परिग्रह से जकड़े है कषायों द्वारा। घर कहां जकड़ हैं? घर तो आपसे 1, 2

फर्लांग दूर है या आसपास है, परिवार कहां जकड़े हैं, परिवार-परिवार की जगह है, आप यहाँ बैठे हैं। जकड़ा है तो कषायभाव से जकड़ा है , दूसरा कोई नहीं जकड़े हैं। किसी गृहस्थ ने राजा जनक से निवेदन किया कि महाराज मुझे घर ने जकड़ रक्खा है, बाँध रक्खा है, कोई उपाय तो बतावो कि बन्धन से छूटें। तो जनक ने उत्तर कुछ न दिया। सामने नीम का पेड़ था सो उस पेड़ को अपनी जेट में भर लिया और कहा—अरे रे रे मैं मरा, मुझे नीम ने जकड़ लिया है, मैं छूट ही नहीं सकता। यह पेड़ मुझे छोड़े तो मैं तुम्हें उत्तर दूं। तो गृहस्थ बोलता है कि मैं तो आपको बुद्धिमान् जानकर पूछने को आया था, किन्तु तुम तो बेवकूफ मालूम पड़ते हो। अरे पेड़ ने तुम्हें जकड़ रक्खा है कि तुमने पेड़ को जकड़ रक्खा है? जनक बोले कि यही तो मेरा उत्तर है। अरे घर ने तुझे जकड़ रक्खा कि तूने घर को जकड़ लिया है।

परिग्रह के जकड़ा से छुटकारा पाने का उपाय सम्यक् अवबोध—भीतर में जो जीव के प्रदेशों में विकारपरिणमन चल रहा है, उस विकारपरिणमन का जकड़ाव इतना कठिन है कि इसके दूर करने का उपाय सिवाय ज्ञान के और कुछ नहीं है। आनन्द पाने के लिए सैकड़ों उपाय कर डालो। यह रोजगार करो। वह रोजगार करो, अमुक है, स्त्री है, पुत्र है, अनेक काम कर डालो, पर शांति न मिलेगी। जो आज बड़े नेता है, मिनिस्टर है, अधिकारी है, धनी हैं—शांति किसे कहते हैं—क्या यह शांति उनके पास है? शांति तो अपने आपके ज्ञान में ही है। शांति अन्य उपायों से त्रिकाल नहीं मिल सकती। इस उपाय को बनाने के लिए चाहे कितनी ही देर लगा लो, किन्तु जब भी शांति मिलेगी तो आत्मज्ञान के उपाय से ही मिलेगी।

किसी भी पदार्थ का पर से असम्बन्ध—भैया ! अपने आपको अनुभव करो कि मैं देह तक से भी न्यारा शुद्धज्ञानमात्र अमूर्त भावात्मक सत् पदार्थ हू मेरा किसी अन्य पदार्थ से सम्बन्ध ही नहीं है। किसी पदार्थ के साथ सम्बन्ध मानना यह दोष है और पर के साथ सम्बन्ध मानने वाले दूसरे मोही अनुदार पुरुषों को निरखकर खेद करे यह भी दोष है। क्यों खेद करते हो? करुणा करना तक भी एक मधुर दोष है। आखिर वहाँ भी तो राग परिणाम है, परिग्रह का अंश है। बाह्यपदार्थों के परिग्रह की चर्चा तो दूर रहो—अन्तरङ्ग में किसी मनुष्य के भला करने का अनुराग उठना यह भी राग का सूक्ष्मदृष्टि से परिग्रह है। जो तुम्हें जकड़े वही है परिग्रह। द्वेष ने तुम्हें जकड़ा ना? हाँ। परिग्रह हो गया। मोह ने जकड़ा ना? तो मोह तो परिग्रह हो गया। राग ने जकड़ा परिग्रह हो गया। और दयाभाव ने जकड़ा, परिग्रह हो गया।

साधु की परम करुणा—परिग्रहरहित दशा में, आकिञ्चन्य अवस्था में, निर्विकल्प समतापरिणाम का उदय होता है, वह है निष्परिग्रहता। साधु पुरुषों का उपदेश है कि साधुवों के इस तरह का रागभाव तो जग सकेगा कि ये संसार के प्राणी अज्ञान विपदा से दु:खी हैं इनकी यह विपदा दूर हो, किन्तु ऐसा राग न जगेगा कि यह भूखा है, इसे रोटी बनाकर खिला दें। जैसा जो पद है उस पद के अनुसार करुणा का भाव होता है। लेकिन अन्दर में तो शुद्धता हो नहीं और साधु भेष रखकर चूकि मैं साधु हू, तो साधु को अधिकार नहीं है कि किसको खिलाये पिलाए। पानी पिलाने तक का भी आरम्भ का परिणाम साधु के नहीं होता। सुनने में जरा कठिन लग रहा होगा, किन्तु उसके ज्ञान और वैराग्य की उत्कृष्ट अवस्था पर दृष्टि दें तो ध्यान में आयेगा कि उसका परिणम कितना निर्मल है कि जिसमें यह राग भी नहीं आता। लेकिन भीतर से तो साधुता का परिणाम नहीं है और कोई सोचे कि साधु को तो आरम्भ का निषेध है तो प्यासा मरता है तो मरने दो तो ऐसा पुरुष, मैं तो जानता हू कि अन्तरङ्ग में पापभाव ही कर रहा है।

ज्ञानियों की होड़ अज्ञानियों द्वारा अशक्य—ज्ञानियों के परिणाम की होड़, प्रवृत्ति की होड़ अज्ञानी करे तो कैसे निभ सकती है? जिसकी जैसी वृत्ति अन्तरङ्ग में है उसके अनुसार वृत्ति होगी। एक किताब है गधे की कहानी पहिले उपन्यासों में चलती थी। उसमें एक जगह घटना आयी है कि एक धोबी के गधा भी था और एक कुतिया भी थी। कुतिया के तीन चार बच्चे हुए। सो वह धोबी उन पिल्लों को खिला रहा था। कुछ उचकाये और कुछ मुख में लगाकर चूमें। वे पिल्ले कभी मालिक के पंजे मारें, कभी सिर पर चढ़े। वह धोबी खुश होकर उन पिल्लों से बड़ा प्यार करे। तो वह गधा सोचता है कि मैं मालिक का इतना तो बोझा ढोता हू और मैं ही घर का खर्च चलाता हू, पर मेरा मालिक मुझसे प्यार नहीं करता और ये पिल्ले जो कुछ नहीं करते, उनसे बड़ा प्यार करता। कुछ गधे के दिमाग में आया कि ये पिल्ले मालिक को पैरों से मार रहे हैं इसलिये मालिक उनसे बड़ा प्यार करता है। सो वह भी धीरे से मालिक के पास गया और अपने पैरों से दो लत्ती मारने लगा। मालिक ने क्या किया कि 5, 7 डंडे गधे के जमाये। अरे क्यों गधे ! गधे का गधे ही जैसा काम है और उन पिल्लों का उनका जैसा काम है, तू उनकी होड़ कर रहा है। अज्ञानीजन ज्ञानियों की प्रवृत्ति को देखकर होड़ करें और अपने आपकी दुनिया में पूज्यता जनावे और अन्तरङ्ग पूज्यता की कल्पना करें तो उनका कैसे मेल हो सकता है? कुछ वहाँ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के अन्तरङ्ग में अन्तर नहीं आ सकता।

ज्ञानी का सद्भाव—ज्ञानी की भावना होती है कि मेरा तो मात्र मैं ही हू, देह तक भी मेरा नहीं है, यह बिछुड़ेगा, और जो रागद्वेष के परिणाम होते है वह मैं नहीं हू मैं तो विशुद्ध ज्ञानानन्दभाव मात्र हू। ये बाह्यपदार्थ मेरे नहीं हैं। जो जिसका होता है वह उनमें तन्मय होता है। मेरा यह ज्ञान तो ज्ञान में ही तन्मय है। यदि ये बाह्य अजीव परिग्रह मेरे हो जायें तो मैं उन अजीवों में तन्मय हो जाऊंगा, तो अजीव बन जाऊंगा। लेकिन मैं तो ज्ञाता ही हू, अजीव नहीं हू। इस कारण कोई भी परपदार्थ मेरा परिग्रह नहीं है। ये बाह्यपदार्थ छिद जावो, भिद जावो, अथवा कहीं भी प्रलय को प्राप्त हो जावो, जहां चाहे वहाँ जावो तो भी मेरे परिग्रह नहीं हैं। कोई 10-5 हजार की चोरी हो जाय या कोई धोखा देकर छीन ले जाय तो यह जीव खेद करता है और क्यों जी 10-5 हजार की बात जाने दो, यदि यह हजारों लाखों का वैभव तुम्हारे पास पहिले से ही न होता, आप एक गरीब परिस्थिति के पहिले से ही होते तो क्या ऐसा हो नहीं सकता था। अरे मुफ्त में ही आया और मुफ्त ही चला गया। उदयवश आया और उदयवश चला गया। इसका क्या खेद करना ज्ञानी जीव के अंतरङ्ग में बड़ा साहस होता है। ये बाह्य परिग्रह किसी भी अवस्था को प्राप्त हों, फिर भी ये मेरे कुछ नहीं हैं।

संबोधन—हे मुमुक्षु पुरुषों ! इस समस्त संसार भ्रमण का स्वरूप देख लो, कहीं यदि सार नजर आता हो तो रम जावो। कहीं भी तो यहाँ सार नहीं दिखता, फिर क्यों इतनी चिंताएं करके इस परिग्रह का विस्तार कर रहे हो? देखो सहज साधारण श्रम से जितना आता हो आने दो, पर चिंता करके आकुलता करके और इतना ही धन होना चाहिए, ऐसा संकल्प बनाकर उद्यम करना यह केवल क्लेश का ही कारण है। खूब देख लो, सोच लो, इस दुनिया को यदि अपना बड़प्पन बताने के लिए धन संचय किया जा रहा है तो यह सारी दुनिया मायास्वरूप है, नष्ट होने वाली है, अपरिचित है, इसमें लाभ क्या पावोगे और मान लो दो चार सौ मील के एरिया में रहने वाले पुरुष भला भी कह दें तो यह सारा लोक तो 343 घनराजू के प्रमाण विस्तार वाला है, इसके आगे यह परिचित क्षेत्र समुद्र में बूद बराबर भी हिस्सा नहीं पाता है। सो थोड़े से क्षेत्र के लोगों ने यदि आपका यश गा लिया तो उससे क्या लाभ होगा? और मरकर किसी ऐसे क्षेत्र में पैदा हो गए जहां कोई पूछ नहीं है तो फिर उस यश से क्या लाभ है?

अपने स्वार्थ की चेष्टा—भैया ! अनेक लोग पिता के मरने पर श्राद्ध किया करते हैं। किसी को भोजन करा दिया तो सोचते हैं कि वह भोजन बाप के पास पहुंच जायेगा। पंडों को पलंग, अनाज, वस्त्र आदि दान देते हैं, सोचते हैं कि ये सब पिता के पास पहुंच जायेंगे। हृदय की बात पूछो तो यह है कि श्राद्ध करने वाला अपने यश के लोभ से या कल्पित पुण्य की चाह से श्राद्ध करता है। देखो प्राय: जो जिन्दा में नहीं सुहाया वह मरने पर क्या सुहा गया? कवि कोई वहाँ अलंकार में कहता है कि वह मर चुका बाप मानो यह प्रार्थना कर रहा है कि हे प्रभु ! ये मेरे लड़के अब इतना खर्च कर रहे हैं, यदि ये जिन्दा अवस्था में प्रेमपूर्वक वचन बोलकर पानी भी देते रहते तो यह भला था। तो जगत की ऐसी ही रीति है। संसार में देखो सर्वत्र दु:ख छाये हैं।

निजगुप्तगृह में निज की गुप्ति—इस परिग्रह का विस्तार छोड़ो और आत्मीय आनन्द की प्राप्ति के हेतु अपने आपके इस शुद्ध ज्ञानस्वरूप में ज्ञानद्वारा प्रवेश करो। यहाँ पर किसी भी परिग्रह की याद में मत दौड़ो। अपने आत्मस्वरूप को ग्रहण करो। जो आत्मा में है वह त्रिकाल छूट नहीं सकता और जो आत्मा में नहीं है वह त्रिकाल आत्मा में आ नहीं सकता। यह मैं आत्मा स्वरसत: सुरक्षित हू। सुरक्षित होता हुआ भी कल्पनाएं करके दु:खी हो रहा हू। कोई खरगोश शिकारी कुत्तों के आक्रमण के भय से डरकर भाग जाता है, और किसी झाड़ी में छुप जाता है, जहाँ किसी की दृष्टि ही न जा सके। उस झाड़ी के आसपास देखकर वे कुत्ते लौट जाते हैं। वह खरगोश अपने कानों से नेत्र बंद करके छिपा हुआ बैठा रहता है। थोड़ी देर में वह खरगोश निकलकर देखता है कि वे कुत्ते गये या नहीं। कुत्ते पुन: उसको देखकर पीछा करते हैं। यों ही यह हित पंथ का अभ्यासी पुरुष परिग्रह की आपदावों से परेशान होकर अपने आपके सुगम सुन्दर गुणों की झाड़ियों में गुप्त होकर बैठ गया और इन्द्रियों को संयत कर चुका, बड़े आनन्द का स्थान पा गया, लेकिन थोड़ी ही देर बाद फिर इन इन्द्रियों को उघाड़कर फिर इन परिग्रहों को देखता है, राग और द्वेषवश इनमें दृष्टि जमाता है। लो अब फिर दु:ख हो गए।

आकिञ्चन्य की अभ्यर्थना और समर्थना—भैया !अरे एक अन्तर्मुहूर्त तो, कुछ भी तो अविचल होकर इस आत्मस्वरूप में स्थिर होओ और देखो कि यह आत्मा स्वयं आनन्द का भण्डार है। अपने आत्मा में अविचल स्थिर होने का जो एक महान् कार्य है यह ज्ञानी संत पुरुष करता ही है। ज्ञानियों को इस पर आश्चर्य नहीं। जैसे कृपण को दूसरों को दान देते हुए आश्चर्य होता है और ऐसा भी सोचने लगता होगा कि इनका दिमाग ठीक है या नहीं। कुछ दिमाग क्रैक तो नहीं है जो ऐसा धन लुटाये जा रहे हैं। ऐसे ही अज्ञानी पुरुषों को ज्ञानी पुरुषों की चेष्टा पर आश्चर्य होता है, ओह कैसे छोड़ दिया उस सुकौशल ने घर, कैसे त्याग दिया उस सुकुमाल ने अपना सारा वैभव? कहीं दिमाग क्रैक तो नहीं हो गया था? और दया भी आ जाती है हाय क्यों ऐसा परिणाम हुआ? ये खेद व आश्चर्य के भाव अज्ञानियों की चेष्टाएं हैं, पर ज्ञानी संत जानते हैं कि सर्वस्व आनन्द त्याग में ही है, निष्परिग्रहता में है, आकिञ्चन्य की उपासना में है। सबसे विविक्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व में उपयोग रमें उससे बढ़कर जगत् में और कुछ है ही नहीं।

संसार की वोट से हित का अनिर्णय—यह संसार का राज्य सब मोही प्रजा से भरा हुआ है। यहाँ लोगों की वोट पर सच्चाई का निर्णय नहीं हो सकता कि देखो अधिक से अधिक मनुष्य जो काम करते हों वही हित का मार्ग है। कोई देश बेवकूफों से ही भरा हुआ हो तो वहाँ जैसे वोटों पर राज्य नहीं चल सकता, ऐसे ही मोहियों से भरे हुए संसार में संसारी जीवों को निरखकर अपना निर्णय मत बनावो कि ये धनसंग्रह में इतना बढ़ रहे हैं तो यह मुझे भी करना चाहिए,

ये परिवार के मोह में सने जा रहे हैं तो यह मेरा भी कर्तव्य होगा, ऐसा ध्यान मत करो। इस परिग्रह पिशाच से हटकर अपने आपके स्वरूप में अविचल स्थिर होने का प्रयत्न करो।

निष्परिग्रह आत्मस्वभाव में रमण—इस परिग्रह त्यागमहाव्रत के प्रकरण में यह बताया गया है कि निष्परिग्रह ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व में रुचिपूर्वक रमण करने का यत्न करना, बाह्य आभ्यंतर 24 प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना सो परिग्रहत्याग महाव्रत है। यहाँ तक व्यवहारचारित्र के प्रकरण में पंचमहाव्रतों का स्वरूप दिखाया गया है और व्यवहार में पालने के लिए ये पंचमहाव्रत मुख्य बताये गये हैं। अब इसके बाद पंचसमितियों का वर्णन चलेगा।

गाथा 61

पासुगमग्गेण दिवा अवलोकंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स।।61।।

ईर्यासमिति में चार सावधानियां—प्रासुप मार्ग से दिन में चार हाथ प्रमाण आगे देखते हुए गमन करने को ईर्यासमिति कहते हैं। ईर्या का अर्थ है चलना और देखभालकर चलने का नाम है ईर्यासमिति। ईर्यासमिति में चार बातें हुआ करती हैं, एक तो अच्छे काम के लिए चलना, दूसरा अच्छा भाव रखते हुए चलना, तीसरा दिन के प्रकाश में चलना और चौथा चार हाथ जमीन देखकर चलना। यद्यपि प्रसिद्धि इतने भर की है कि चार हाथ जमीन देखकर चलना सो ईर्यासमिति हैं, किन्तु ईर्यासमिति में चारों ही बातें हुआ करती हैं। यदि इन चारों में से एक भी कम हो तो वह ईर्यासमिति का रूप नहीं है।

चार में से किसी की असावधानी से ईर्यासमिति का अभाव—मानो कोई बुरे काम के लिए जा रहा हो और बड़ा देखभाल कर जा रहा हो—कोई जीव न मर जाय तो ईर्यासमिति उसे कहेंगे क्या? नहीं कहेंगे, क्योंकि वहाँ तो धर्म का पंथ ही नहीं है तो ईर्यासमिति कहां से हो? कोई अच्छे उद्देश्य से जा रहा हो, मगर गुस्सा करता हुआ, गाली देता हुआ जा रहा हो तो क्या उसे ईर्यासमिति कहेंगे? नहीं कहेंगे, क्योंकि वह तो बुरे भाव करके जा रहा है। कोई अच्छे उद्देश्य से जाय, अच्छे परिणाम रखता हुआ जाय और रात्रि में जाय तो भी ईर्यासमिति नहीं है। कोई दिन में भी जाय, अच्छे उद्देश्य से भी जाय, अच्छे भावों से भी जाय, पर ऊचा मुह उठाकर जाय तो वह भी ईर्यासमिति नहीं है।

व्यवहारसमिति व निश्चयसमिति का एकाधिकरण—जो परम संयमी गुरुयात्रा, देवयात्रा आदि के शुभ प्रयोजन का उद्देश्य रखकर चार हाथ आगे मार्ग को शोधता हुआ, देखता हुआ स्थावर और त्रस जीवों की रक्षा के लिए दिन में ही जाता है उस परमसंयमी पुरुष के ईर्यासमिति कही जाती है, यह है व्यवहारसमिति का स्वरूप। निश्चय समिति का स्वरूप यह है कि अभेद अनुपचरित रत्नत्रय के पथ से परमधर्मस्वरूप निज आत्मा का परिणाम करना सो निश्चयसमिति है। समिति शब्द में 2 शब्द हैं—सम् और इति। सम् का अर्थ है भली प्रकार, इति का अर्थ है प्राप्त करना। अपने आपके शाश्वत् शुद्ध चित्स्वभाव को प्राप्त करना इसका नाम है समिति। इस निज स्वभाव की प्राप्ति निज आत्मतत्त्व के श्रद्धान् ज्ञान और आचरण के मार्ग से होती है। भैया ! बाहरी पदार्थों को हम जानना चाहें तो इन इन्द्रियों से जान सकते हैं। यह स्निग्ध है, इसका अमुक रस है, इसके लिए बहिर्मुख होकर भी काम चल सकता है, चलता ही है, किन्तु अपने आपके स्वरूप का परिचय इन्द्रियों को संयत करके केवल ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। इसके परिचय का उपाय कोई दूसरा नहीं है।

वस्तु का स्वरूप—प्रत्येक पदार्थ एक है। दो मिलकर एक कोई नहीं होता। यह विज्ञान सिद्ध भी बात है। एक वही होगा जो अखण्ड होगा, अथवा जिसका परिणमन जितने पूरे में हो और उसे बाहर कहीं न हो उसको एक कहा करते हैं। जैसे

यह चौकी है, यह एक पदार्थ नहीं है। इसके एक खूंट में यदि आग लग जाय तो वह परिणमन सारी चौकी में कहां हो रहा है? एक परिणमन जितने में हो व उसही एक समय में होना पड़ उतने को एक चीज कहते हैं। एक परमाणु है वह पूरी एक वस्तु है। रूप रस आदिक जो भी परिणमन होगा वह पूरे परमाणु में होगा, हम आप सब एक-एक आत्मा पूर्ण अखण्ड एक-एक हैं। इन आत्मावों में प्रत्येक आत्मा में जो भी परिणमन होता है—सुख हो, दु:ख हो, विचार हो, ज्ञान हो वह इस समूचे आत्मा में होता है। धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाश एक है, काल असंख्यात एक-एक है। हो, वह इस समूचे आत्मा में होता है।

पदार्थ का पूर्ण स्वयं में ही स्वयं का परिणमन—हाथ में फोड़ा हो गया तो उस फोड़े की वेदना यद्यपि ऐसी लगती है कि हाथ में बड़ी वेदना है, किन्तु वह वेदना पूरे आत्मा में है, हाथ में नहीं, या हाथ में जितने आत्मप्रदेश हैं उतने में ही हो, ऐसा नहीं है फिर ख्याल इस फोड़े की ओर क्यों हो जाता है? इस फोड़े के निमित्त से वेदना उत्पन्न हुई है। इस कारण उस वेदना के समय में निमित्तभूत पदार्थ पर दृष्टि जाती है। वस्तुत: वह सारा दु:ख पूरे आत्मा में होता है, हाथ के प्रदेश में ही दु:ख होता है ऐसा नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य की पूर्णता व अभेदरूपता—इस तरह एक-एक जीव एक-एक पदार्थ हुआ, एक-एक परमाणु एक-एक पदार्थ हुआ। धर्मद्रव्य एक स्वतंत्र पदार्थ है जो सारे लोक में व्यापक है। जीव पुद्गल का गमन हो तो उसके गमन में सहकारी कारण है। यद्यपि धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य के सम्बन्ध में कोई कुछ विशेष कहा नहीं जा सकता क्योंकि बहुत सूक्ष्म तत्त्व है यह। लेकिन कुछ युक्ति ऐसी आती भी है—मछली जल में चलती है तो मछली के चलने में जल न हो तो मछली नहीं चल सकती तो वह जल स्थूलदृष्टि से सहकारी कारण है, किन्तु साथ ही कोई सूक्ष्म भी ऐसा कारण है जिसकी वजह से जीव और पुद्गल गमन कर सकते हैं। वह है एक धर्मद्रव्य। अधर्मद्रव्य वह है जो जीव पुद्गल के चलते हुए के बाद ठहरने में सहायक हो। आकाश है और एक काल है असंख्यात। ये सभी द्रव्य एक-एक पूर्ण अपने में अभेद रूप से हैं।

निश्चय समिति का उद्यमन—आत्मा के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए आचार्य महाराज इसमें अनन्तगुण बताते हैं, कुछ के नाम भी ले दिए हैं। इसमें ज्ञान है, दर्शन है, श्रद्धा है, चारित्र है, लेकिन इस आत्मा में ऐसे पृथक्-पृथक् कोई गुण नहीं हैं। वह तो एकस्वभावी है। मैं एकस्वभावी हू। हम किस तरह बता सकें, उसके बताने का उपाय भेदव्यवहार है। तो आत्मा एक है और वह अभेद स्वभावी है, जिसको चित्स्वभाव शब्द से कह सकते हैं। ऐसे अभेद स्वभावी आत्मा के श्रद्धान् से ज्ञान और आचरण से इसको प्राप्त हो जाय, इस ही का नाम निश्चयसमिति है। जब संकल्प-विकल्प इस जीव में नहीं हैं तो बाह्यपदार्थों का यह आदर न करे, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि तक न रहे ऐसी स्थिति में आत्मा का जो सहजविश्राम होता है उस परिस्थिति में स्वत: ही यह उपयोग आत्मतत्त्व को प्राप्त होता है—वह है वास्तविक समिति। यह समितियों का लक्षण पाचों समितियों में घटेगा।

निश्चय ईर्यासमिति—ईर्यासमिति में यह बात लेना कि बाहर भटका हुआ यह उपयोग बाहर से हटकर अपने आपके स्वरूप में चले, उसे ईर्यासमिति कहते हैं। चलने और जानने दोनों का एक अर्थ होता है, एक मर्म होता है। जानने में भी ज्ञान चला। मैंने ज्ञान किया, मेरे ज्ञान आया, उसमें भी गमनागमन का प्रयोग होता है। संस्कृत में जाना और जानना दोनों की प्राय: एक धातु होती है याने एक ही वर्ब जाने का अर्थ भी बताया है और जानन का अर्थ भी बताता है। संस्कृत में प्राय: ऐसी अनेक धातुवें हैं और उन धातुवों से संज्ञा भूत भेद से भी जानें कि जैसे कहते हैं अवगम। उसने जब अवगम

किया, उस अवगम का अर्थ है जानना, और अवगम में धातु है गम, उसका अर्थ है गमन करना। गमन करना और अवगम करना दोनों में एक धातु है, उसका जाना भी अर्थ है और जानना भी अर्थ है। तो यह उपयोग अपने आपके स्वरूप में जाय, इसका नाम है ईर्यासमिति।

निश्चयईर्यासमिति पूर्वक व्यवहारईर्यासमिति का लाभ—साधु जनों के निश्चयईर्यासमिति भी है और व्यवहारईर्यासमिति भी है। निश्चयईर्यासमिति का भाव हुए बिना व्यवहारईर्यासमिति वास्तव में साधु का चारित्र नहीं है। है भी चारित्र, ठीक है, पुण्यबंध कराने वाला है पर संवर और निर्जरा का कारण नहीं है। कोईसी भी क्रिया हो, कोईसा भी परिणाम हो, उस परिणमन में निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार की पद्धति हुआ करती है।

परिणतिसूचक निश्चय व व्यवहारपद्धति—जैसे हम जानते हैं कि हमने चौकी जानी, तो मेरा ज्ञान मेरे आत्मप्रदेश को छोड़कर क्या चौकी में चला जाता है? ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता। ज्ञान एक गुण है और वह ज्ञानशक्ति आत्मा के प्रदेश में है। जहां तक आत्मतेजपुंज है वहाँ तक ही ज्ञानशक्ति है और सभी शक्तियां हैं। तो जहां यह ज्ञानशक्ति है इस ज्ञानशक्ति का परिणमन उस ही स्थान में होगा। उसको छोड़कर बाहर ज्ञानशक्ति परिणमेगी नहीं? तो चौकी का ज्ञान करने में भी हमने क्या किया? जो कुछ किया अपने आपके आत्मा में रहते हुए अपने आपके आत्मा में ही परिणमन किया। ज्ञेयाकार परिणमन हुआ, हुआ भी वह अपने आपमें ही, लेकिन उस वास्तविक काम को, निश्चय परिणमन को हम किन शब्दों में कहें कि मैंने यहाँ क्या किया? इस निश्चय परिणमन को बताने का उपाय यह ही है कि मेरे परिणमन में जो विषयभूत बाह्य पदार्थ है उसका नाम लेकर कहा जाय कि मैंने चौकी को जाना। निश्चय से हमने चौकी को नहीं जाना, किन्तु अपने आपमें अपने आपकी ज्ञानशक्ति की परिणति हो गई।

परिणति का अन्यत्र अगमन—जैसे हम दर्पण लिए बैठे हैं, हम दर्पण को ही देख रहे हैं पर दर्पण को देखकर ही अपने पीछे के सारे मनुष्यों की क्रियावों का वर्णन कर सकते हैं। इसने अब पैर उठाया, इसने हाथ उठाया, इसने जीभ चलायी, सब हम वर्णन कर सकते हैं—देख रहे हैं केवल दर्पण को ही, पर वर्णन कर रहे हैं हम उन सभी पुरुषों के सम्बन्ध में। इसी प्रकार जो बाह्यपदार्थ हैं उनका ज्ञेयाकार परिणमन यहाँ हो जाता है तब हम जान तो रहे हैं अपने आपमें उठने वाले ज्ञेयाकार परिणमन को ही, किन्तु उस ज्ञेयाकार परिणमन को जानते हुए हम बाह्यपदार्थों के बारे में वर्णन किया करते हैं।

ईर्या का निश्चय व्यवहार परिणमन—उस अभेद स्वभावी और अभेद परिणामी अपने आपको मैं निरख सकू—ऐसा जो यत्न है उस यत्न का नाम है ईर्यासमिति। निश्चयत: जो जैसे बाहर सब कुछ जानन में निश्चयजानन और व्यवहारजानन लगा हुआ है, इसी प्रकार प्रत्येक क्रिया में निश्चयवृत्ति और व्यवहारवृत्ति चला करती है। निश्चयत: यह साधु पुरुष अपने आपके उपयोग में जा रहा है और व्यवहारत: यह साधु पुरुष बाह्य में इस जीवरक्षा का यत्न कर रहा है।

यथार्थ लक्ष्य बिना धर्म के वेश में विडम्बना—कोई अज्ञानी पुरुष अपने आपके आत्मस्वरूप से बिल्कुल अपरिचित हो और साधुधर्म के नाम पर बाह्यवृत्तियों का खूब पालन करे, तो अपने ज्ञानस्वभाव का स्पर्श न होने के कारण वे सबके सब श्रम बहिर्मुखी हैं। वहाँ बाह्यपदार्थों की ओर दृष्टि है। मैं साधु हू, ये श्रावक हैं, मुझे ऐसा करना चाहिए, ये सब बहिर्मुखी दृष्टियां हैं। कोई एक प्रश्न करे कि यह क्या कारण है कि आजकल प्राय: यह दिखता है कि जितना धैर्य जितनी शांति गृहस्थों को है उतना धैर्य, उतनी शांति प्राय: साधुजनों को नहीं है। और करीब-करीब उनके गुस्सा ही दिखा करता है। जरासी बात पर गुस्सा आ जाता है और असद्व्यवहार करते हैं, तो उसका कारण है क्या? क्यों इतने जल्दी क्रोध आ

जाता है और इतनी जल्दी असद्व्यवहार होने लगता है? उसका कारण केवल एक यह ही है कि अपने आपके शुद्ध चैतन्यस्वरूप की खबर नहीं है। उन्हें जो कुछ दिखता है उसे ही अपना सर्वस्व मानने लगते हैं। यह वृत्ति तब बनती है जब अपने स्वरूप की खबर नहीं है। जब अपने स्वरूप की खबर नहीं हे और बाहर की सुध बनाए हुए है तो यही तो सोचेंगे अपने शरीर को देखकर कि यह मैं हू, और यह मैं निर्ग्रन्थ हू। घर बार त्याग दिया, निष्परिग्रह हू, साधु हू, मुझे ऐसा करना चाहिए, मुझे ऐसा पूजना चाहिए।

अज्ञान दशा में लोकलिहाज की भी होली—अहो अज्ञान दशा में कहीं-कहीं तो लोकलिहाज भी खत्म हो जाती है। अपनी पूजा दूसरों से बनवा लिया और सुबह पूजन का टाइम होने पर कहा कि यह अष्टद्रव्य लो, हमारी यह पुस्तक है, इससे यह पूरा करो। इस तरह अपनी पूजा भी करवाते, इतना तक भी लोकलाज नहीं रहती, इसका क्या कारण है? इसका कारण मूढ़ता, पूरा अज्ञान। जहां अज्ञानभाव है और जहां यह बात चित्त में आयी है कि मैं साधु हू, पूजाता हू, पूजाने वाला हू, ये लोग पूजने वाले हैं तो जितना स्टेण्डर बना रक्खा है उतनी प्रतिष्ठा तो मिल नहीं सकती है तब उसे दु:ख होता है। कल ही सुनाया था प्रेमचन्द्रजी ने कि विनोबाजी का एक पत्र आया है, जिसमें लिखा है कि तुम्हारा दुर्भाग्य का दिन शुरू होगा उस दिन जिस दिन तुम जितने हो उतने से बड़े दुनिया में जाहिर हो जावोगे। शिक्षाप्रद बात लिखी थी।

योग्यता से अधिक प्रसिद्धि में खतरा—भैया ! है तो हम थोड़े ज्ञान वाले और अपने को पहिले से बड़ा ज्ञानी महाविद्वान् जाहिर करा दें, अथवा लोग जान जायें कि यह तो बड़े ऊचे विद्वान हैं, और है साधारण जानकार तो समझों कि उसका दुर्भाग्य शुरू हो गया। कोई हो साधारण पोजीशन का और उसके बारे में दुनिया बहुत बड़ा पोजीशन माने तो समझो कि उसको विपत्ति आ गयी। कोई है तो छोटे ज्ञान का और अपने को बहुत बड़ा विद्वान् जाहिर कर दे कि हम बहुत बड़े विद्वान् हैं अथवा लोगों ने समझ लिया कि यह बहुत विद्वान् है, तो उसमें कितनी ही विपत्तियां आती हैं। पहिली विपत्ति तो घमण्ड की है। घमंड आ जाय तो वह दु:खी ही रहेगा क्योंकि मान पोषण कौन करेगा? कोई किसी का नौकर है क्या? सो यों दु:खी रहेगा। उसने जितना बड़ा ज्ञानी माना है उतने ही लोग ज्ञानप्रकाश कराने के प्रसंग में आयेंगे और प्रश्न पूछेंगे। बड़े पुरुष आयेंगे। उस समय उसके पास यदि ज्ञान है थोड़ा और कुछ न बन सका, न कुछ बता सका तो क्या है, मिट्टी पलीत हो गयी।

आत्मबोध बिना लोकविद्या से तृष्णा की उद्भूति—बनारस में एक बहुत बड़ा विद्वान् था, बूढ़ा हो गया लेकिन बुढ़ापे में भी रात दिन पुस्तकें देखा करे। तो लोगों ने कहा कि महाराज ! आप सैकड़ों विद्वानों के गुरु हैं और सबसे ऊचे विद्वान् हैं, फिर भी आप रात दिन याद करते रहते हैं, इतना श्रम आप क्यों करते हैं? तो वह वृद्ध विद्वान् बोलता है कि हम इतना श्रम न करें और कदाचित् कोई हमसे शास्त्रार्थ करे, शास्त्रार्थ में हार गये तो कुवे में गिरने के सिवाय और कोई चारा नहीं है। अंत में हुआ भी ऐसा ही हाल। किसी नये विद्वान् ने उनसे शास्त्रार्थ की घोषणा कर दी। उस शास्त्रार्थ में वह वृद्ध विद्वान् हार गया और अंत में कुए में गिरकर अपनी जान दे दी।

अज्ञानान्धकार—सो भैया ! हो तो छोटी पोजीशन और बड़े पोजीशन की प्रसिद्धि करे या हो जाय तो उसकी बड़ी विडम्बना है। तो जिसको यह दिखती हुई दुनिया सब कुछ मालूम होती है—यह शरीर है सो मैं हू और मैं साधु हू, ये सब श्रावक हैं, इनका कर्तव्य पूजना है, मेरा कर्तव्य पूजाना है—ऐसा अज्ञान का अँधेरा जब इस जीव पर छा जाता है तब इसका शुद्ध आशय नहीं रह सकता और ऐसा पुरुष धर्म के नाम पर बड़ी-बड़ी तपस्याएं करे, बड़ी-बड़ी समितियों का, व्रतों

का पालन करे, फिर भी वहां संवर और निर्जरा लेशमात्र भी नहीं हैं। इस कारण निश्चयसमिति के उद्यमी के साधु पुरुषों के ही यथार्थ व्यवहार ईर्यासमिति होती है।

ईर्यासमिति में धार्मिक उद्देश्य—ईर्या मायने चलना। अपने आप की ओर चलना सो वास्तव में ईर्यासमिति है। निश्चयईर्यासमिति के पालक आत्मदर्शी को किसी कार्य के लिए चलना पड़े तो वह त्रस स्थावर जीवों की रक्षा करता हुआ चलता है, यही उसकी व्यवहारईर्यासमिति है। ईर्यासमिति में भले काम के लिए चलना चाहिए। वे भले काम क्या-क्या हो सकते हैं, उदाहरण के लिए देखिये—तीर्थयात्रा करना, देव वंदना करना, गुरु के समीप जाना। ये सब उसके धार्मिक उद्देश्य हैं और आहार के लिए जाना यह भी साधुसंतों का धार्मिक उद्देश्य है। साधु संतजन आत्मतत्त्व के विशेष रुचिया होते हैं। उनको भोजन न मिलना, मिलने की अपेक्षा अधिक रुचिकर है। आहार करने को वे आपदा और विडम्बना समझते हैं। क्यों समझते हैं? अहो अब मैं आत्मस्वरूप की दृष्टि छोड़कर भिन्न असार जिनका परिपाक मलमूत्र बनेगा ऐसे पदार्थों में दृष्टि देकर मैं अपने आपको भूल जाऊंगा। ऐसे बेकार काम को मैं जा रहा हू। उन्हें इस बात का अन्तर में शोक रहता है, ऐसे संत धार्मिक लक्ष्य लेकर ही ऐषणा करते हैं।

उत्सर्गप्रिय संत की प्रवृत्ति में भी कारण विवेक का आग्रह—जो आत्मानुभव के आनन्द से सुखी रहा करते हैं वे इस आत्मीय आनन्द को छोड़कर भोजन आदिक की प्रवृत्ति में चलें तो उनको वहाँ आपत्ति मालूम होती है। किन्तु क्या करें, विवेक समझाता है कि क्षुधा की तीव्रता है। देखो शरीर की स्थिति न रहेगी तो तुम नियमों का पालन कैसे कर सकोगे, अन्तर में संक्लेश परिणाम का सद्भाव हो जायेगा और शरीर की शिथिलता से बाह्य में कोई भी आवश्यक कार्य सावधानी से न कर सकोगे—इसलिए चलो क्षुधा को शांत कर आओ, यों विवेक समझाता है तब साधु चर्या के लिए उठता है। चर्या करते हुए में उनका प्रयोजन धर्मस्वभावी आत्मतत्त्व की सिद्धि का ही है, खाने का प्रयोजन नहीं है। उत्सर्गप्रिय संत को विवेक का आग्रह ही आहारचर्या में प्रवृत्त कराता है।

साधु की आहार में भी धार्मिक कृति होने पर एक सद्गृहस्थ का दृष्टान्त—उत्तम प्रयोजन के अर्थ आहार करने में भी वह साधु पुरुष धार्मिक कार्य कर रहा है। जैसे कि किसी गृहस्थ का यह नियम हो कि मैं आजीवन शुद्ध भोजन करूंगा, और भोजन करने से पहिले मैं साधु संत पात्र को भोजन कराकर अथवा उनकी प्रतीक्षा करके भोजन किया करूंगा, ऐसा संकल्प करने वाले को सुबह मंदिर से पहुंचने के बाद घर में रसोई का आरम्भ चल रहा है—यद्यपि वह आरम्भ है और पूर्ण निर्दोषता की बात नहीं है, किन्तु उद्देश्य में यह पड़ा हुआ है कि मैं साधु पुरुष को आहार कराऊंगा, इस भावना से जो आहार बना रहा है उसका आहार बनाने का कार्य भी उस गृहस्थ के योग्य धर्मकार्य में शामिल हो गया।

गृहस्थ के योग्य सुगम चार पुरुषार्थ—देखो भैया ! चार पुरुषार्थ बताये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म मायने पुण्य करना, अर्थ मायने धन कमाना, काम मायने पालन, पोषण, भोग उपभोग करना और मोक्ष मायने मुक्ति का उपाय करना। सो इन चार पुरुषार्थों में से मोक्ष पुरुषार्थ तो बड़ा कठिन लग रहा है और आजकल मोक्ष पुरुषार्थ साक्षात् है भी नहीं। तब मोक्ष पुरुषार्थ के बजाय एक पुरुषार्थ आपको ऐसा बतायें कि आप सुनते ही खुश हो जायें (हाँ बताओ महाराज) देखो तीन तो हैं—धर्म, अर्थ, काम और चौथा हैं—नींद लेना, सोना। आपके लिए चार पुरुषार्थ बताये हैं। पुण्य कार्य करना, धन कमाना, भोग उपभोग करना और नींद लेना। और देखो—रात दिन में 24 घंटे होते हैं—और काम है चार, सो चारों काम बांटने में प्रत्येक में 6 घंटे का विभाग हुआ। कुछ संशोधन के साथ क्रम भी देखिये—सुबह जगने के बाद

शुरू के 6 घंटे धर्म में लगावो, उसके बाद के 6 घंटे धन कमाने में लगावो, उसके बाद के 6 घंटे घर के पालन पोषण के, भोग उपभोग के, समाज के, संस्थावों के कामों में अपना समय लगावो और बाद के 6 घंटों में नींद लेवो।

धर्म के पीरियड में गृहस्थ की धार्मिक कृतियां—सुबह के 4 बजे से 10 बजे तक आपका धर्म का पीरियड है, 10 बजे से 4 बजे तक धन कमाने का पीरियड है, 4 बजे से 10 बजे रात तक सबकी खबर-दबर लेना, पालन पोषण करना, सभा सोसायटी के कार्य करना, ये सब काम हैं और 10 बजे रात से 4 बजे तक निद्रा लेना। इनमें 1, 1।। घंटे का काम अदल-बदल लो—फिर अपने आपकी चर्या बहुत हो जायेगी। तो उस धर्म के पीरियड में जो रसोई बनाता होगा वह भी धर्म में शामिल है। यदि यह परिणाम है कि मैं साधु संतों को आहार कराके आहार करू तो रसोई बनाते हुए भी वह धर्म में शामिल है और किसी साधु को आहार कराकर फिर स्वयं भोजन करने बैठे तो वह भी धर्म में शामिल है। साधु को खिलाकर जो संतोष से उसने अपना चौथाई पेट भर लिया, उस खुशी में उसकी दृष्टि साधु के गुणस्मरण में चलती रहेगी और यहाँ भोजन में मुख चलता रहेगा। तब बताया है कि खाना भी धर्म में शामिल है।

निश्चय ईर्यासमिति के पालक के व्यवहारईर्यासमिति का सुगम पालन—जहां निश्चयईर्यासमिति होती है वहाँ व्यवहारईर्यासमिति उसकी सहज क्रिया से चलती है और जिसके निश्चयईर्यासमिति नहीं है वह जान-जानकर हठ करता है कि मैं साधु हू, मुझे देखकर चलना चाहिए। इस प्रकार अंतरङ्ग में पर्यायबुद्धि का, हठयोग का परिणाम रखकर ईर्यासमिति को पालना संवर और निर्जरा का कारण नहीं है। यद्यपि वह भी जीव रक्षा कर रहा है, लेकिन अंतरङ्ग में जिसके निश्चयईर्यासमिति नहीं है अर्थात् सम्यग्ज्ञान नहीं है, आत्मा के स्वभाव का स्पर्श नहीं है वह पुरुष बाह्य में रक्षा का भी यदि यत्न करेगा तो हठपूर्वक करेगा। सहज न बन सकेगा। इस कारण व्यवहारईर्यासमिति भी वहाँ मोक्षमार्ग की सहायक है जहां निश्चयईर्यासमिति हो।

मुक्तिसखी निश्चयईर्यासमिति—निश्चयईर्यासमिति कहते हैं आत्मस्वरूप में अपने उपयोग को भली प्रकार ले जाना, यही है निश्चयईर्यासमिति। यह कला यह जिसके जगी है वह पुरुष सहजभाव से जब प्रवृत्ति करता है तो जीवरक्षासहित प्रवृत्ति करता है। यह ईर्यासमिति मानों मुक्तिकांता की सखी है। जैसे सखी के माध्यम से कान्ता तक पहुंच जाना सरल हुआ करता है, इसी प्रकार ईर्यासमिति के माध्यम से मुक्ति के निकट पहुंच हो जाती है। मुक्ति क्या है? आत्मा के विशुद्ध चैतन्यविकास का नाम मुक्ति है। इस मुक्ति में गमन उसी का ही होता है जो इस ओर दृष्टि करके इस ओर ही रहा करे। यह भाव है निश्चय ईर्यासमिति में।

पिच्छिका की आवश्यकता—साधुजनों का मुख्य कर्तव्य एक ही है, अपने आत्मा की साधना करना, लेकिन जब तक शरीर साथ है तब तक इस शरीर के पोषण का भी एक-एक यत्न करना ही पड़ेगा। क्षुधाशांति के लिए चर्या को जाना ही पड़ेगा, ऐसी स्थिति में वे साधुजन ईर्यासमिति पूर्वक गमन करते हैं। गमन करते हुए में साधु के पास पिछी अवश्य होना चाहिए। साधु कोई ध्यान में खड़ा है—कोई पिछी ले जाय, ले जावो वह ध्यान में खड़ा है। साधु को पिछी की आवश्यकता ही नहीं है, किन्तु साधु गमन करे तो पिछी का आवश्यकता है। कदाचित् पिछी बिना भी वह 7 पग जा सकता है, इतना आचारसंहिता में विधान है, पर इतने से कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता है। चर्या के समय गृहस्थ के चौके में पिछी ले जाना अनुचित है और जो साधु ऐसा ही हठ करते हैं कि चौके के भीतर ही ले जाएं और वहाँ ही कहीं रख दें या किसी खूटी वगैरह में टाँग दें या नीचे धरें तो वह गृहस्थ पर दया नहीं करते।

पिच्छिका का प्रयोग—पिछी एक संयम का उपकरण है, पिछी के बिना भी ऐसे समय दो चार कदम चला जा सकता है, पर विहार करे तो वहाँ पिछी बिना विहार नहीं हो सकता। विहार कर रहे हैं, धूप कड़ी है, किसी पेड़ के नीचे छाया में आना है तो पेड़ की छाया में प्रवेश करने से पहिले धूप में खड़े-खड़े पिछी से अपने अंग को झाड़ेंगे तब छाया में प्रवेश करेंगे। कारण यह है कि कोई जीव ऐसे हैं जो धूप ही पसंद करते हैं तो उन्हें छाया में पहुंचकर क्लेश होगा। और जब छाया छोड़कर धूप में आते हैं तो धूप में प्रवेश करने से पहिले अपने शरीर को पिछी से झाड़ देते हैं। कारण यह है कि जो जीव छाया पसंद करते हैं उन्हें धूप में जाकर कष्ट होगा। आचारसंहिता में जीव दया के सम्बन्ध में ये सब पद्धतियां बतायी गयी हैं। एक करवट से साधु लेटा है, यदि उसे दूसरी करवट बदलनी हुई तो पिछी से अपने शरीर को व निकटस्थानों को साफ करता है ताकि करवट बदलने में किन्हीं जीवों का घात न हो जाय।

साधु की अत्यल्प निद्रा और सावधानी—साधु जनों के सोने में उतनी बेहोशी नहीं होती जितना कि गृहस्थ बेखबर सोते हैं। साधुजन सोते हुए भी जागते रहते हैं क्योंकि छठे गुणस्थान में नींद है। 7 वें गुणस्थान में नींद नहीं है। छठे गुणस्थान का नाम प्रमत्तविरत है। उसमें प्रमाद भी है। 7 वें गुणस्थान में अप्रमत्तविरत है। वहाँ निद्रा नहीं है। तो सूक्ष्म दृष्टि से साधु को दो-दो, चार-चार सेकण्ड बाद सावधानी आया करती है। घंटा मिनट सोने की बात तो दूर रही, वे तो दस पाच-पाच सेकण्ड बाद जग जाया करते हैं। इसलिये उन साधुवों को सोते हुए भी जगता हुआ कहा जाता है। जैसे कितने ही मनुष्य ऐसे होते हैं कि सोते हुए में दूसरे की बातें सुनते रहते हैं, आधी-धूधी सुनाई देती हैं और कोई खास अपने मतलब की बात हो तो झट जग जाते हैं। ऐसे ही आधी-धूधी नींद साधु में रहती है और क्षण-क्षण बाद, सेकेण्डों बाद जागरण हो रहा है, वे गाढ़ निद्रा नहीं कहलाती है। करवट बदलेंगे तो पिछी से अपना शरीर झाड़ पोंछकर बदलेंगे।

मयूरपिच्छिका के गुण—ईर्यासमिति की साधना के लिए मुनि को मयूरपंख ही बताया गया है। इसके कई कारण हैं। इस मयूरपिच्छिका में अनेक गुण हैं। इसमें पसीना नहीं चिपकता, पानी नहीं ठहरता और ये इतने कोमल होते हैं कि आँख में लग जायें तो भी कोई बाधा नहीं पहुंचाते, जीवों को अलग करने में किसी जीव को बाधा नहीं होती—ऐसे अनेक गुण है और साधु जन जंगलों में रहा करते थे। ये मयूर पंख जंगलों में आसानी से मिल जाया करते हैं। मयूर जंगलों में रहते हैं। कहीं भी 20, 40 पंख उठा लिये और उन्हीं की पिछी बन गयी। कोई हजार पंख की बहुत बढ़िया पिछी बनाए, देखने में खूबसूरत लगे, बहुत बड़ी हो, ऐसी भावना की पिछी दोष करने वाली है। प्रथम तो उससे स्नेह हुआ, दूसरे पिछी लेने का प्रयोजन तो यह था कि किसी जीव का घात न हो, किसी पर बोझ न हो, मगर बहुत बड़ी पिछी रख लिया तो उसमें तो बहुत बड़ा पिछी का भी भार बन जाता है। किसी जीव पर इतनी बड़ी पिछी रख दिया तो उसको कुछ बाधा हो सकती है इसलिए बहुत थोड़े पंखों की पिछी साधु जनों को बतायी गयी है। साधु कमण्डल के बिना तो चल सकते हैं, विहार कर सकते हैं, पर पिछी के बिना वे विहार नहीं कर सकते हैं। यह सब व्यावहारिक ईर्यासमिति है।

ईर्यासमिति के पालक की महिमा—व्यावहारिक ईर्यासमिति तो उस साधु के है जो निश्चयईर्यासमिति का भी यत्न कर रहा है, तो वास्तव में उसके लिए यह चारित्ररूप समिति है। जो साधु इस ईर्यासमिति के मर्म को जानकर इस निश्चयईर्यासमिति पथ को जानकर कंचन और कामिनी के संग से दूर रहते हैं और अनुपम अपूर्व सहज अपने आपमें प्रकाशमान् चित्स्वभाव का अवलोकन करते हैं वे तो उस काल भी एक दृष्टि से मुक्त हीं हैं।

आत्मदेव की निःसंदेह भक्ति—देखिये इतिहासों में जो प्रभु के चारित्र सुनाये गए हैं उनको अनेक समुदायों ने अपनी-अपनी मंशा के मुताबिक अनेक प्रकार से गाये हैं। कोई इसमें कदाचित् संदेह भी कर सकता है, ऐसे थे वे प्रभु या नहीं थे। ऐसा ही किया या नहीं किया। भले ही वहां कुछ संदेह कोई कर बैठे, वह तो पीठ पीछे की बात है, लेकिन यह आत्मदेव तो प्रकट साक्षात् सामने है, अपना-अपना आत्मप्रभु अपने आप अपने उपयोग के सामने है। थोड़ा इन्द्रियों को संयत करके, विषयकषायों की भावना को दूर करके अपने आपमें ही थोड़ा निरखना भर है। यह तो साक्षात् अपनी आंखों के सामने है, उपयोग के सामने है। देखो—है ना यह ज्ञान से लबालब भरा हुआ अन्यथा बतलावो इसमें रूप है क्या? रस, गंध, स्पर्श है क्या? ये तो कुछ भी इसमें नहीं हैं। यह तो आकाशवत् अमूर्त केवलज्ञान प्रकाशमात्र है।

आत्मदेव के निकट पहुंच—भैया !इसमें उजेला झक्काटा भी नहीं है। जैसे कि लोग कहते हैं कि जब आत्मा का ध्यान करने लगते हैं तो भीतर में कुछ झक्काटासा होता है और उजेला नजर आता है तो वहाँ न झक्काटा है, न उजेला है, किन्तु ज्ञानमय विशद अनुभव ऐसा स्वच्छ है कि वहाँ अँधेरा जैसा अनुभव नहीं होता। वहाँ न अँधेरा है, न उजेला है। मुझे तो विदित होता है कि वहाँ न झक्काटा है, न प्रकाश है, न अँधेरा है, किन्तु जाननमात्र है, ऐसा ज्ञान तत्त्व से लबालब भरा हुआ यह आनन्दमय आत्मतत्त्व समस्त जगत् के पदार्थों से निराला है। इसके अन्दर कोई दूसरी बात होती ही नहीं है। मैं किसी दूसरे से बधा हुआ नहीं हू। जगत् के सर्व जीव स्वतंत्र हैं। ऐसा शाश्वत् चित्प्रकाशमात्र आनन्दमय ज्ञानस्वभावी आत्मप्रभु को जो साक्षात् देख लेता है वह पुरुष तो मानों मुक्ति के अत्यन्त निकट है। यह सब अंतरङ्ग गमन का प्रसाद है, निश्चयईर्यासमिति का प्रभाव है।

साधु संतों का सहज योग्य व्यवहारप्रवर्तन—साधुजन जब चलते हैं, उठते हैं, बैठते हैं, करवट बदलते हैं तो उनका सहज ही ऐसा कार्य बनता है। मैं साधु हू इसलिए पिछी से झाड़कर बैठना चाहिए। इतना सोचने का अवकाश उन्हें नहीं मिलता, किन्तु वे सहज ही झाड़कर बैठ जाते हैं। जैसा चाहे उठें, बैठें, भागें, गमन करें, जीवरक्षा का कोई ध्यान न हो तो ऐसी स्थिति में उस साधु को क्या चारित्र की मूर्ति कहा जा सकता है? यद्यपि वे मुनि ज्ञानी जीव पिछी में कोई देवत्व का निश्चय नहीं रखते, किन्तु उसे सयंम का उपकरण समझकर उसका उपयोग किया करते हैं। कुपथ में चलने के लिए उन मुनिजनों का मन ही नहीं करता है और देव वंदना को, गुरु वंदना को या आवश्यक धर्मध्यान के कर्तव्य के समय उस पिछी को हाथ में लेकर जाते हैं, उस पिछी से जीवों का बचाव करते हैं, तो कुछ बाह्य वातावरण से भी उनमें विशेषता आ जाया करती है।

द्विविध संयम—यह ईर्यासमिति समस्त चारित्रों का मूल है। त्रस जीवों का घात और स्थावर जीवों के छाह से बचाने वाली यह ईर्यासमिति है। साधुजनों के दो प्रकार के संयम होते हैं। एक उपेक्षासंयम और दूसरा अपहृतसंयम। उपेक्षासंयम का अर्थ यह है कि कहीं जीव बहुत चल रहे हैं, उनका बचाव यों नहीं हो सकता है तो उस जगह को छोड़कर निकट दूसरी जगह से चल दें या किसी स्थान पर बैठना हो और उस स्थान पर जीव अधिक हो तो वहाँ झाड़कर न बैठें, किन्तु उस स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में बैठ जायें, या जाने में उस स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान से चल दें यह है मुनियों का उपेक्षासंयम। और जब देखें कि उस स्थान को छोड़कर दूसरे मार्ग से जाने का मार्ग ही नहीं है अथवा दूसरा स्थान कोई बैठने के लिए नहीं है और थोड़े बहुत ही वहाँ जीव हों तो उस स्थान को साफ करके साधु बैठ सकता है।

लेकिन कदाचित् जीवों की संख्या बहुत हो तो विहार बंद करके साधु लौट आयेगा अथवा उसे प्रयोजन ही नहीं है बैठने का। तो साधुजन जीवरक्षा में सावधान रहते हैं।

षट्काय के रक्षक—साधुजनों के 6 काय के जीवों की रक्षा करने वाला बताया गया है। 6 काय कौन-कौन हैं? पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पति काय और त्रसकाय। इन सबकी रक्षा करने वाले साधु होते हैं। ऐलक और क्षुल्लक का वही जीवरक्षा का कर्त्तव्य है। ऐलक का अर्थ है कम कपड़े वाला। ऐलक शब्द में जो अर्थ भरा है उसका अर्थ है अत्यन्त कम कपड़े वाला। जिसका प्रसिद्ध अर्थ है एक लँगोटी मात्र रखने वाला। ऐलक शब्द अचैलक से बना है। अचैलक में अ का अर्थ "नहीं" नहीं है, किन्तु ईषत् है। ईषत् मायने थोड़ा, चैल मायने कपड़ा। जैसे लोकव्यवहार में बोलने लगते हैं, अरे तुम बड़े मैले कुचैले हो। कु मायने खराब और चैल मायने कपड़ा। तो जिन कपड़ों को गृहस्थ न पसन्द करे ऐसा वह कपड़ा है ऐलक की लँगोटी। ऐसा थोड़ा जो चैल रखने वाला है उसका नाम है अचैलक। इसमें च का लोप होकर प्राकृत में ऐलक हो जाता है।

क्षुल्लकमुनि—ऐलक के पहिले है क्षुल्लक। क्षुल्लक मायने छोटा, तुच्छ। यह संस्कृत का शब्द है। क्षुल्लक एक मुनि शब्द का विशेषण है, श्रावक शब्द का विशेषण नहीं। अगर श्रावक शब्द का विशेषण हो तो उसका अर्थ हो जाय—तुच्छ श्रावक, छोटा श्रावक। पर क्षुल्लक शब्द मुनि का विशेषण है जिसका अर्थ है छोटा मुनि, तुच्छ मुनि। क्षुल्लक को भी पिछी बताई गयी है। पर कदाचित् क्षुल्लक कोमल कपड़े से भी पिछी का काम कर सकता है। न पिछी हो तो ऐसा अनिवार्य नहीं है कि वह विहार ही नहीं कर सकता। कोई कोमल कपड़ा हो तो उस कोमल कपड़े को हाथ में लेकर विहार कर सकता है। ऐलक को पिछी अनिवार्य है क्योंकि वह मुनि के अत्यन्त निकट पहुंच गया है। तो पिच्छिका संयम का उपकरण है, जीवरक्षा का साधन है।

निश्चयसमिति के सहवास से व्यवहारसमिति की समर्थता—साधुजन जब विहार करते हैं या लोटते हैं या थोड़ा भी करवट बदलते हैं तो ये सब बातें पिच्छिका बिना नहीं कर सकते। यदि न हो पिच्छिका तो साधु यों ही बिना हिलेडुले खड़ा रहेगा, पड़ा रहेगा। तो व्यवहारईर्यासमिति निश्चयईर्यासमिति के साथ शोभा को प्राप्त होती है। ईर्यासमिति संसाररूपी दावानल के संताप के क्लेश को शांत करने वाली है।

पिच्छिका के पंख में विद्या की प्रसिद्धि का कारण—बहुत से लोग कहते हैं कि यह पिच्छिका विद्या है। पिछी का एक-एक पंख विद्या कहलाता है। सब लोग प्राय: कहते भी हैं कि विद्या हमें दो, बल्कि चलते हुए में मुसलमानों तक के बालक यह कह देते हैं कि यह विद्या है। अरे यदि विद्या है तो बाजारों में खूब बिकते होंगे, ले आवो 4 रुपये में हजारों पंख, फिर खूब उनसे विद्या ले लो। उन मयूरपंखों से विद्या की रूढ़ि कैसे हुई? सो सुनिये, साधुजन के पास पिछी रहती थी, शास्त्र रहता था, शास्त्र पढ़ रहे हैं, जहां तक पढ़ा वहाँ निशान लगाने के लिए कोई दूसरी चीज न मिले और पिछी में से कोई पंख उखड़ जा, टूट जाय तो वही शास्त्र में रख लेते थे। लोगों ने देखा कि महाराज शास्त्र में इसे रखते हैं, यह विद्या है। इसी वजह से इनमें ज्ञान लबालब भरा हुआ है। इस तरह उनमें विद्या की रूढ़ि हो गई। आज तक भी लोग कहते हैं। इससे जैनधर्म के चारित्र की प्राचीनता सिद्ध होती है।

ओनामासी धम् की प्रसिद्धि में कारण जैनतत्त्व की व्यापकता—जैसे अध्ययन के कार्य में लोग कभी-कभी अहाना में लोग यों बोल देते हैं कि 'ओनामासी धम्, बाप पढ़ें ना हम।' इस प्रसिद्धि का स्रोत क्या हैं, सो सुनिये, पूर्वकाल में 'ॐ नम:

सिद्धिम्' बोला जाता था। पहिले सबको यही पाटी पढ़ाई जाती थी 'ओनामासी धम् सीदो वन्ना समामनाया, चतुरो चतुरो दासा' इत्यादि 5-6 पाटी पढ़ाई जाती। यह पाटी जो हमने बोली है वह पढ़ने वालों की भाषा में बोली है, यह सब अशुद्ध है। शुद्ध क्या है—'ॐ नम: सिद्धम्, सिद्धोवर्णसमाम्नाय:, तत्र चतुर्दशादौस्वरा:' ऐसा चलता जाता है। तो ये सूत्र चलते थे जैनव्याकरण के। ये सब कातन्त्रव्याकरण के सूत्र हैं। इसकी रचना कैसे हुई? सो सुनिये।

सुगम प्राचीन जैनव्याकरण की रचना का इतिहास—एक बार एक राजा अपनी रानियों सहित तालाब में खेल रहा था—जिसे जलक्रीड़ा कहते हैं, एक दूसरे पर छींटे मारे जा रहे थे। यह वृत्त हजार वर्ष पहिले का है। तो जब रानी छींटों से परेशान हो गयी तो रानी कहती है—'मोदकं देहि राजन्।' उसका अर्थ था कि हे राजन् ! अब जल छींटे न मारो। उसका अर्थ राजा ने यों लगाया कि यह रानी लड्डू मांग रही है—सो तुरन्त आज्ञा दी अपने नौकरों को, जावो लड्डुवों का टोकरा ले आवो। तब रानी ने थोड़ा मूर्खता का उलहना दिया तो राजा को इतनी चोट लगी कि यदि मैं संस्कृत का जानने वाला होता तो आज क्यों इतनी गालियां सुननी पड़ती। तो उसने संकल्प किया कि मैं संस्कृत पढ़कर रहूंगा। यह बहुत पुरानी घटना है। वह एक आचार्य के पास गया, बोला महाराज ! मैं बहुत मूर्ख हू, संस्कृत भाषा पढ़ना चाहता हू, मुझे ऐसी सरल पद्धति से संस्कृत सिखावो कि जल्दी आ जाय। उस समय के आचार्यों की यह व्याकरण है। उसी व्याकरण के ये सूत्र हैं, जो ब्राह्मण वगैरह सब अध्ययन में पाठ में पढ़ते हैं। 'ॐ नम: सिद्धं, अर्थात् सिद्ध को नमस्कार हो, इसमें एक वाक्य है। 'ॐ नम: सिद्धेभ्य:' में और 'ॐ नम: सिद्धं' में अन्तर देखो—'ॐ नम: सिद्धेभ्य:' का अर्थ है सिद्धों को नमस्कार हो और 'ॐ नम: सिद्धं' का अर्थ है साधु को अनुकूलित करने के लिए नमस्कार हो। इसमें भाव उजाला भरा हुआ है। जैसे नमस्कार दो तरह के होते हैं। तुम्हारे हाथ जोड़ें—यह भी नमस्कार है, एक प्रेमपूर्वक हाथ जोड़ना यह भी नमस्कार है। खैर इन दोनों में इतना तो अन्तर नहीं है, लेकिन 'ॐ नम: सिद्धेभ्य:' का अर्थ है सिद्धों को नमस्कार हो और 'ॐ नम: सिद्धं' का अर्थ है—सिद्ध के गुणों को अपने में उतारते हुए उनको भाव नमस्कार हो। यों जिस प्रकार 'ओनामासी धम्' से जैन विद्या की प्राचीनता सिद्ध होती है इसी प्रकार मयूरपंख को विद्या कहने से जैनचारित्र की प्राचीनता सिद्ध होती है।

दुर्भावसंतापशामक मेघवर्षण—ईर्यासमिति सहज ज्ञानस्वरूप आत्मदेव की वंदना के लिए उपयोग का जो गमन है उसे निश्चयईर्यासमिति कहते है। यह समिति संसार के संताप अग्नि को शांत करने के लिए घनमेघ माला की तरह समर्थ है। जैसे जंगल में बहुत तेज आग लग चुकी हो तो इस आग को बुझाने में नगरपालिका के फायर विभाग समर्थ नहीं है। उस पर तो घनमेघमाला बरस जाय तो क्षण में ही आग शांत हो सकती है। इसी प्रकार विषयकषायों के दुर्भावों के संताप से इस आत्मभूमि में अग्नि जल रही है, लहलहा रही है, इस अग्नि के संताप को दूर करने में समर्थ न मित्रजन है, न घर के लोग हैं, किन्तु एक भेदविज्ञान के द्वार से आया हुआ जो यह ज्ञानानुभवरूप रूप मेघवर्षण है वह ही एक समर्थ है।

उपादेय और हेय वैभव—यह उपयोग आत्मस्वभाव की ओर गमन करे, इससे उत्कृष्ट लोक में कोई वैभव नहीं है। जिसे लोग वैभव कहते हैं वह तो धूल है। लाखों का वैभव हो अथवा करोड़ों का वैभव हो, वह इस आत्मा की आकुलता का ही निमित्त बनता है। शांत ज्ञानामृत स्वच्छ, पवित्र ज्ञान सुधारस के स्वाद में वैभव का रंच भी हाथ नहीं है। यदि इस धन वैभव में शांति की सामर्थ्य होती तो बड़े-बड़े तीर्थंकर, चक्रवर्ती क्यों त्याग देते? उन्होंने इस धन वैभव को असार समझ कर इस तरह त्यागा जैसे कोई नाक छिनक कर बाहर फेंक देते हैं, उसकी ओर फिर दृष्टि नहीं देते। ऐसे ही उन्होंने इस

वैभव को ऐसा त्यागा कि उसका फिर स्मरण भी नहीं किया। यही है निश्चयईर्यासमिति। यह अपनी ही कहानी है, अपने ही आनन्द की चर्चा हैं।

आनन्दपोषिका मेघमाला—शाश्वत् नित्यप्रकाशमान् अछेद्य, अभेद्य इस चैतन्य महाप्रभु के उपयोग का नाम है समिति। यह परमानन्द रूप धान्य को उत्पन्न करने वाली और पुष्ट करने वाली मेघमाला है, और साथ ही कुछ जब तक अनुराग रहता है तो इस भुसरूप पुण्य को भी पैदा करने वाली है। धर्म तो है बीज और पुण्य है तुष। जो धर्म के मार्ग में लगता है उसके जब तक भव शेष है यह पुण्य-पुण्य तो मिला ही करेगा। धन्य हैं वे ज्ञानी पुरुष जो पुण्य, पाप दोनों को समान मानकर हेय समझ कर उन दोनों से विविक्त इस ज्ञानानन्दस्वभावरूप धर्म में आते हैं।

सुख दु:ख में समानता का कारणभूत ज्ञान—ज्ञानी की दृष्टि सुख और दु:ख में समान रहती है। सुख आया तो क्या? सुख तो दु:ख देकर मिटा करता है। दु:ख आया तो क्या? दु:ख सुख देकर मिटा करता है। खूब-खूब परख लो। जिस किसी को भी सुख मिला तो वह सुख-दु:ख देकर मिटेगा, और जिसे दु:ख मिलता है उसे सुख देकर वह दु:ख मिटेगा। क्योंकि संसार चक्र के सुख और दु:ख एक के बाद एक परिवर्तित होते रहते हैं। अरे उस दु:ख देकर मिटने वाले सुख से क्या प्रेम करना? फांसी पर लटकाये जाने वाले पुरुष के आगे मिठाई का थाल रख दिया जाय कि खावो भाई खूब प्रेम से छककर भरपेट, पर उसको उस भोजन के खाने में रुचि होती है क्या? उसे तो मालूम है कि फांसी पर लटकाया जाने से पहिले होने वाले ये सब नेग दस्तूर हैं। यों ही दु:ख देने के लिए आये हुए ये लौकिक सुख हैं। ये मिठाई के थाल हैं। ज्ञानी जीव जानता है कि यह दु:ख के महागर्त में पटकने के लिए विषयों के भोग और उपभोगों का समागम मिलना नेग दस्तूर है। ज्ञानी को इस लौकिक सुख में अनुराग नहीं होता।

ज्ञानी के विपदाभय का अभाव—यों ही सुख देने वाले दु:ख में ज्ञानी को कभी घबड़ाहट भी नहीं होती है। आये हैं दु:ख आने दो, ये दु:ख अतिथि हैं, मेहमान हैं, ये सदा न रहेंगे और दु:ख भी हैं क्या? कल्पना बना ली तो दु:ख हो गया। यही परख लो, जितने भी सज्जन यहाँ बैठे हैं, सब अपने में कोई न कोई एक दु:ख लिए हुए रहा करते हैं। क्या दु:ख है सो बताओ? कोई यों सोचते होंगे कि धन कम है और बढ़ जाय। अरे धन जितना है आवश्यकता से ज्यादा है, आगे की तृष्णा क्यों करते हो, क्या इससे निर्धन और लोग नहीं हुआ करते। क्या क्लेश है? बहुत धन हो गया तो उसकी रक्षा करने का क्लेश है, यह सुरक्षित नहीं रहता। अरे नहीं रहता तो न रहने दो। नहीं रह पाता तो यों क्यों मिटावो, पर-उपकार में इस धन को लगा दो तो उससे होने वाला पुण्य साथ ले जावोगे। फिर भी नहीं रहता है तो जैसे मानों 10 वर्ष बाद छोड़कर जायेंगे तो आज से ही छूट गया तो उसमें क्या बुरा हो गया? मेरा धर्म, मेरा ज्ञान मुझसे अलग हो तो मैं बरबाद होऊगा।

व्यर्थ का क्लेश—खूब परख लो कौनसा क्लेश है? क्लेश बनाये जा रहे हैं। कोई कुटुम्ब में गुजर गया अथवा अकेले रह गये, बड़ा क्लेश महसूस करते हैं। अरे समस्त पदार्थों का नग्न स्वरूप है, परमाणु हो तो, आत्मा हो तो, सभी द्रव्यों का नग्न स्वरूप। है प्रत्येक पदार्थ मात्र अपने स्वरूप को लिए हुए है, किसी दूसरे पदार्थ को लपेटे हुए नहीं है। यदि किसी पदार्थ के स्वरूप में अन्य पदार्थ का स्वरूप प्रवेश पा जाता तो आज यह देखने को दुनिया न रहती। क्योंकि संकरता आ गयी तो कौन किस रूप हो जाय? फल यह होता कि सर्वशून्य हो जाता। कोई कष्ट नहीं है। कष्ट के

विकल्प को त्यागें, अपने आपको स्वतन्त्र निश्चल एकाकी ज्ञानमात्र देखें और बहुत बड़ी कमायी कर लें। थोड़ासा इस असार वैभव की तृष्णा में आकर अपने अनन्त ज्ञान अनन्त सुख की निधि को बरबाद न करें।

बबूले को क्या अपनापन?—भैया ! क्या है? यह जीवन पानी के बबूले की तरह है। पानी में उठा हुआ बबूला कितनी देर रहेगा? वह शीघ्र ही मिट जाता है। बबूला मिट जाय इसमें आश्चर्य नहीं है किन्तु वह 10—5 सेकण्ड टिक जाय तो उसमें आश्चर्य है बरसात में खपरैल से अवतरियां गिरती हैं और पानी का बबूला बन जाता है। बच्चे लोग उन बबूलों में ऐसी कल्पना कर लेते हैं कि यह बबूला मेरा है, दूसरा कहता है कि यह बबूला मेरा है। कल्पना कितने प्रयोजन के लिए है कि मैं यह बता दू कि यह मेरा बबूला इनके बबूले से ज्यादा देर टिक सका। केवल इस प्रयोजन के लिए उन बबूलों में आत्मीयता करते हैं। अधिक देर तक टिक जाय तो वे खुश होते हैं। अरे बबूलों के मिटने का क्या आश्चर्य है। टिकने का आश्चर्य है ऐसे ही बबूले की तरह क्षणिक इन पदार्थों को जीवों ने अपनी कल्पना से अपना कर लिया है कि यह कितने दिन टिकेगा? यह जब है तब भी संग नहीं है, बबूला जब उठ रहा है तब भी नहीं है बालक का। लेकिन वह कल्पना करके खुश होता चला जा रहा है।

भगवंत संतों का उपकार—केवल इस प्रयोजन के लिए उन बबूलों में आत्मीयता करते हैं। अधिक देर तक टिक जाय तो वे खुश होते हैं, अरे बबूलों के मिटने का क्या आश्चर्य है। ऐसे ही बबूले की तरह इन पदार्थों को जीवों ने अपनी कल्पना से अपना कर लिया है कि यह मेरा घर है, यह मेरा वैभव है। अरे यह कितने दिन टिकेगा? यह जब है तब भी संग नहीं है। बबूला जब उठ रहा है तब भी नहीं है बालक का। लेकिन वह कल्पना करके खुश होता चला जा रहा है।

भगवंत संतों का उपकार—अहो, इन संत पुरुषों का हम कितना उपकार मानें? उनका ऋण चुकाने के लिए हम आपके पास कोई सामर्थ्य नहीं है। और मूल में मूलगुरु तीर्थंकर भगवान् का हम कितना बड़ा उपकार मानें कि जिनको परम्परा से आज हमें यह बोध होता है कि जगत् के प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतन्त्र हैं, इस कारण मेरा कहीं कुछ नहीं हैं। "न अपना ज्ञान धन खाता, भिखारी क्यां बना होता। खुदी का खुद पुजारी तू, कभी का बन गया होता।।" केवल परपदार्थों में यह मैं हू, यह मेरा है, इस दुर्बुद्धि से संसार में गोते खाते चले जा रहे हैं, अरे जो बात सच है उसके मानने में भी कितना कष्ट हो रहा है? यह नहीं कह रहे हैं कि अपना घर छोड़ो, दुकान छोड़ो, पैसा छोड़ो अरे इसमें कई गुणा धन आयेगा उसे कहां मिटाया जायेगा, पर यथार्थ बात मन में बनी रहेगी तो अशांति नहीं हो सकती। इतना लाभ है।

निश्चयसमिति की अनभिज्ञता का परिणाम—यह निश्चयईर्यासमिति सदा जयवंत हो, जिसके प्रसाद से संसार के समस्त क्लेश समाप्त हो जाते हैं। जो प्राणी इस निश्चयरत्नत्रय से विमुख हैं अर्थात् अपने ज्ञान को अपने सहज ज्ञानस्वरूप के जानने के लिए नहीं ले जाते हैं ऐसे संसार के रोगी कामवासना के बीमार, विषयों की इच्छा के भिखारी जीवों को इस संसार में जन्म होता रहता है। इस मिले हुए शरीर को क्या निरखना? शरीरों का मिलना ही तो संसार है। यही तो एक कष्ट है। किसी क्षण इन शरीरों का मिलना बंद हो जाय, बस इसी के मायने तो प्रभुता है। जब हमें शरीर न मिलें ऐसे पंथ पर चल रहे हैं तो वर्तमान शरीर में राग करना, यह तो विवेक नहीं है।

सेवक शरीर की सेवा की कृपासीमा—खैर नौकर की तरह जानकर शरीर को भोजन दें, जैसे सेवक बड़ा उपकारी होता है, और इसी कारण उसका पोषण किया जाता है, यों ही वर्तमान में यह शरीर सेवकों की तरह है। संयमसाधना, ध्यानसाधना के लिए यह शरीर सहकारी हो रहा है। सहकारी कुछ नहीं हो रहा है, इतना भर काम हो रहा है कि यह दुष्ट

कोई दुष्टता न करे। दुष्टों को भी तो हाथ जोड़कर मनाया जाता है और वे मान जायें तो उनको कहा जाता है कि इन्होंने हमारा बड़ा उपकार किया। उपकार तो कुछ नहीं किया। यही किया कि दुष्ट ने दुष्टता नहीं की। इसी तरह शरीर को भी भोजन दिया जाता है। यद्यपि इससे कुछ संयम में मदद नहीं मिलती किन्तु इतना लाभ होता कि क्षुधा तृषा की वेदना और आकुलता की दुष्टता नहीं हो पाती। इतना भर लाभ है शरीर के पोषण में। नियम और साधना ये तो अपने ज्ञान के द्वारा ही साध्य हैं।

स्वच्छ हार्द रखने का कर्तव्य—इस ईर्यासमिति के बिना, परमार्थभूत आत्मस्वभाव की ओर उपयोग को ले जाने के बिना इस प्राणी का इस लोक में जन्म होता रहता है। इस कारण हे मुने, हे विवेकी जन, हे मुमुक्षु पुरुष, अपने इस आत्म घर को इतना स्वच्छ रखो जहां मुक्ति रानी का आगमन हो सके अर्थात् तू मुक्ति के लिए उद्यम कर। संसार में उपयोग मत फंसा। यहाँ तो तू जल में कमल की भांति रह। जो जीव इस निश्चयईर्यासमिति को उत्पन्न करते हैं अर्थात् अपने आत्मदेव की भाववंदना के लिए गमन करते हैं वे मोक्षरूप होते हैं। वास्तविक गमन वही है जो आत्मा की ओर हो। नहीं तो संसार में भटकना बना रहता है।

चारित्रधारी की वंदनीयता—यह प्रकरण चल रहा है व्यवहारचारित्र का। व्यवहारचारित्र में पंचव्रतों के पालन की बात हे और उन पंचव्रतों की उत्कर्षता बढ़ाने के लिए, पंचव्रतों की रक्षा करने के लिए पंचव्रतों का फलित स्वाद लेने के लिए 5 समिति और तीन गुप्तियों का वर्णन है। इसे अष्टप्रवचन मातृका कहा है। 5 समिति और तीन गुप्ति इनके स्वरूप का, प्रयोजन का, वृत्ति का भली प्रकार ज्ञान हो तो वह मुनि अन्य शास्त्रों का विशेष ज्ञान न भी रखता हो तो भी वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। यह ईर्यासमिति का प्रसंग चल रहा है, जो जीव निश्चयईर्यासमिति का पालन करता है और प्रयोजन होने पर, व्यवहार में आने पर व्यवहारईर्यासमिति का सहज परिवर्तन करता है वह साधु पुरुष सिर नवाकर वंदनीय है। यों ईर्यासमिति का वर्णन करके अब भाषासमिति का लक्षण कह रहे हैं।

गाथा 62

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पसंसियं वयणं।
परिचत्ता सपरहियं भासासमिदी वदंतस्स।।62।।

भाषासमिति में परिहार्य पञ्चवचन—चुगली, हसी, कठोर वाणी, परनिन्दा, अपनी प्रशंसा रूप जो वचन है उनका परित्याग करने वाले साधुसंत जो निज पर कल्याण के ही वचन बोलते हैं उस वचनालाप के करने को भाषासमिति कहते हैं। भाषासमिति के लक्षण में इतनी बातों को अत्यन्त हेय प्रदर्शित किया हे। चुगली, हसी, मर्मभेदी वचन बोलना, दूसरों की निन्दा करना और अपनी प्रशंसा करना—ये पाच बातें परिहार के अर्थ ख्याल में रखिये। अपने जीवन में भी इन 5 बातों का परिहार बना रहे तो आपका आत्मा भी आनन्दरूप बर्तेगा और जहां आप होंगे वहाँ के वातावरण में जितने मनुष्य लगे होंगे वे भी प्रसन्न हो जायेंगे। जैसे इत्र लगाने वाले के समीप सब लोग खुशबू लेते रहते हैं ऐसे ही सज्जन पुरुषों के समीप बसने वाले सब मनुष्य प्रसन्नबदन रहा करते है। उन पाचों चीजों का क्रम से कुछ स्वरूप सुनिये।

पैशुन्यवचन—चुगली कहो या दोगलापन कहो, चुगली का अर्थ है चार गले की बात का नाम। इससे कही उससे कही, जो चार जगह यहाँ से वहाँ, वहाँ की यहाँ बातें करे, बैठे वह है चुगल और दूसरे के गले में उतार दे दूसरे की बात वह है चुगली। चुगल का नाम है संस्कृत में कर्णेजप, जो दूसरों के कान में जाप देवे। चुगल दूसरे के कान में धीरे-धीरे बात

कहा करता है। कोई बात चुगल ने जोर से बोल दी तो ऐसा लगेगा सुनने वाले को कि कोई महत्त्व की बात नहीं है और धीरे से कहे, कान में कहे कि अमुक ऐसा है तो वह जानेगा कि यह कोई खास भीतरी मर्म की बात कह रहा है। चुगल का नाम क्या है? कर्णेजप। जो दूसरों के कान में जाप किया करे। उस चुगल के मुख से निकले हुए जो वचन हैं वे पैशुन्य कहलाते हैं, चुगली के वचन कहलाते है।

पैशुन्यवचन से विपदा का विस्तार—कोई चुगली एक पुरुष की विपत्ति का कारण है। कोई चुगली एक कुटुम्ब भर की विपत्ति का कारण हो जाती है, और कोई चुगली एक गांव भर की विपत्ति का कारण हो जाती है। क्या सार रक्खा है चुगली में? जो चुगल है वह सदा भयभीत रहता है, कहीं मेरे मायाचार की बात प्रकट न हो जाय, ऐसी सदा शंका बनी रहती है। यहाँ की बात वहाँ करे, वहाँ की बात यहाँ करे, और उन दोनों में परस्पर में कलह करा दे। क्या पड़ी है? हाँ अपना कोई मित्र हो और उसको सावधान रखने के लिए किसी की आलोचना कर दी जाय तो वहाँ आशय उसका खोटा न हो तो वह मित्रता में शामिल है, न होगा चुगली में शामिल, किन्तु ऐसा भी होता कहां है?

जैसे किसी को जुवे की आदत पड़ जाय तो उसे बिना खेले चैन नहीं पड़ती। जिन बच्चों को तास खेलने की आदत होती है वे सुबह होते ही तास लेकर बैठ गये, 12 बज गये—मां बुला रही बेटा खाना खा जावो। तो वह कहता है कि अभी एक दांव तो और चलने दें। जिसको जिसकी आदत पड़ जाती है वह बंधन में हो जाता है। किसी परपुरुष से या किसी परस्त्री से स्नेह का प्रारम्भ करना भी महान् विडम्बना है। थोड़ा प्रारम्भ करे तो वह फिसल कर अंत में बरबाद ही होगा। किसी भी दुराचार के लिए बात प्रारम्भ करना भी खतरे से भरपूर है। इस जीवन में बड़ा सावधान रहना चाहिए।

चुगल की मच्छरवत् चर्या—चुगल को बताया है मच्छर की तरह। जैसे मच्छर पहिले पैर में गिरता है, फिर पीठ का मांस खाता है और फिर कान में कुछ धीरे-धीरे बोला करता है, समझ गये ना? ये काट खाने वाले मच्छर ऐसा ही करते हैं। इसी तरह ये चुगल पहिले पैरों में गिरता है और फिर पीठ पीछे उसकी हानि की बात किया करता है और फिर दुबारा उसके कान में भरभराया करता है। क्या तत्त्व रक्खा है चुगली की बात में?

साधुवों में पैशुन्य का पूर्ण अभाव—साधुसंत पुरुषों में चुगली का लेश भी नहीं रहता। किसकी चुगली करना, किससे चुगली करना? मुनिजनों को तो जरा भी अवकाश नहीं है कि बैठकर तो खा लें। इसलिए वे खड़े ही खड़े आहार करके चले जाते हैं। देखा होगा मुनियों को। अब कोई यों जानें कि हम तो साधु हैं, खड़े होकर खाना चाहिए तो यह तो उसकी पर्याय बुद्धि है। अरे साधु को इतनी नहीं है, उसे तो ध्यान है आत्मचिन्तन का, आत्महित का, अपने ज्ञान ध्यान में लवलीन रहने का, सो उन्हें बैठकर अच्छी तरह आहार करने का अवकाश ही नहीं हे। यह है आन्तरिक मर्म खड़े होकर भोजन करने का। और व्यवहार में मर्म यह है कि खड़े होकर कम खाया जाता है। तो आलस्य न आयगा। अब किसी के खड़े होकर भी डबल खाने की आदत पड़ जाय तो उसका इलाज क्या होगा हमें तो नहीं मालूम। तो जिसको आत्महित की धुन लगी है ऐसे ज्ञानी संतपुरुष को अवकाश कहां है? फिर किसकी वह चुगली करे और किससे करे? चुगली विपत्ति का कारण है। चुगली कुटुम्ब की विपत्ति का कारण है अथवा ग्राम का ग्राम एक चुगल की वजह से नष्ट हो जाया करता है। चुगली का वचन अत्यन्त हेय है।

हास्यकर्म की हेयता—जैसे चुगली हेय है इसी प्रकार हंसी मजाक करना भी हेय है। कहीं पर किसी समय कुछ भी दूसरे मनुष्य के विकृत रूप को देखकर अथवा कोई बात को सुनकर जो कुछ खुशी के परिणाम से मिलीजुली हसी करने

वाले के मुख में विकार हो जाता है वह हसी मजाक कहलाता है। जो हसी मजाक करे उसका जरा कैमरे से जरा फोटो तो उतार लो और फिर उसे दिखावो बड़ा खराब उसका लगेगा। दूसरे के मुख विकार को देखकर जिसने हसी की उसका मुख विकार उससे भी विकृत बन जाता है, और फिर कहते हैं कि रोग की जड़ खांसी और झगड़े की जड़ हांसी। हसी करने के लिए रंच भी उन्मुख मत हो। अभी लग रही है हसी, और किसी समय हो जायगा यही भयंकर रूप तो जीवन भर के लिए बैर बंध सकता है। तो हसी मजाक के भी वचन साधु संतपुरुषों के नहीं हुआ करते हैं। इस प्रकरण में उन 5 निन्द्यनीय वचनों की चर्चा चल रही है।

हास्यभाव में रुद्रता का आशय—लोग हसी किया करते हैं कब? जब हास्य नामक नोकषाय का उदय रहता हे। इसका उदय प्राय: करके थोड़ी-थोड़ी देर बाद चला करता है तब वहाँ बाह्य निमित्त पाकर और उस ओर उपयोग होने पर उसकी हसी मजाक की वृत्ति हो जाती है। यह हास्य यद्यपि कुछ हर्ष से भरा हुआ है, फिर भी यह अशुभ कर्मबंध का कारण है। किसी की हसी मजाक करना पापबंध का कारण है। दूसरे को क्लेश पहुंचाये बिना और शरीर में दु:खी करने के परिणाम आये बिना अथवा अपने आपमें मद आये बिना हसी मजाक नहीं किया जा सकता है। इस कारण यह हास्य कर्ममय वचन भी अतिनिन्दनीय है, इसका प्रयोग न करना चाहिए।

कर्कश वचन का रूप—तीसरा हेय वचन कहा जा रहा है कर्कश वचन। जो वचन दूसरों को अप्रीति पैदा करे उसका नाम है कर्कश वचन। यह कान एक टेढ़ी-मेढ़ी पूड़ी की तरह है, अथवा मूग की दाल के बरोले की तरह है। ऐसे कर्णशष्कुली के बिल के निकट पहुंचने मात्र से ही जो वचन दूसरों को अप्रीति उत्पन्न करें उसे कर्कश वचन कहते हैं। क्रोध कषाय में लोग प्राय: कर्कश वचन बोलते ही हैं। उन वचनों के क्या उदाहरण देना, और उदाहरण देकर समय क्यों खराब करना? देहातीजन, असभ्यजन मर्मभेदी कठोर वचनों का प्रयोग करते हैं।

कर्कश वचन की चोट—एक लकड़हारा था, वह लकड़हारा लकड़ी बीनने जंगल में गया। सामने देखा कि एक शेर लंगड़ाता हुआ आ रहा है। पहिले तो वह डरा, पर क्या करे? सिंह तो अत्यन्त निकट आ गया और लकड़हारे के सामने पड़कर अपना पंजा दिखाया। पञ्जे में बहुत बड़ा कांटा लगा था, लकड़हारे ने उस कांटे को निकाल दिया। सिंह उसका बड़ा कृतज्ञ हुआ, और गिड़गिड़ाकर कहने लगा कि रे लकड़हारे, तुम लकड़ी का बोझ अपने सिर पर लाद कर ले जाते हो सो ऐसा न करो, अब तुम हमारी पीठ पर लादकर ले चला करो। वह सिंह की पीठ पर लकड़ी का बोझ लादकर घर ले गया। दूसरे दिन भी गया तो उसने सोचा कि यह सिंह तो लादकर ले ही जाता है चलो 25 सेर की जगह अब 1। मन लकड़ी ले चलें। 2 मन लादे, फिर चार मन लादे और अपने घर लकड़ी ले जाय। इस तरह वह लकड़हारा थोड़े ही दिनों में धनी हो गया। जिस समय वह लकड़ी रख रहा था तो लोगों ने पूछा कि कहो भाई, तुम कैसे इतना जल्दी धनी हो गये? तो वह बोला कि मेरे हाथ एक स्याल गधा लग गया है वह बोझा लाता है जिसके कारण मैं धनी हो गया हू। यह बड़ी तेज आवाज में बोला था, सो शेर ने सुन लिया, सुनते ही उसके दिल में गहरी चोट लगी।

कर्कश वचन में प्राणघात से भी अधिक विघात—इसके बाद दूसरे जब लकड़हारा चार मन लकड़ी लादकर लाने की उत्सुकता में था कि वह सिंह लकड़हारे के पास आकर कहता है रे मनुष्य ! आज तुम अपनी कुल्हाड़ी बड़ी तेजी से मेरे सिर पर मारो, मैं जीना नहीं चाहता हू। बड़ा डरा। सिंह ने कहा देखो यदि तुम नहीं मारते हो तो मैं तुम्हें मार डालूगा। इस मनुष्य ने अपनी जान बचाने के लिए सिंह के सिर पर बड़े जोर से कुल्हाड़ी मारी। शेर मरता हुआ कह रहा है कि

तुम्हारी कुल्हाड़ी धार उतनी ही पैनी मुझे नहीं लगी जितने पैने तीक्ष्ण तुम्हारे ये वचन लगे थे कि मेरे हाथ एक स्याल गधा लग गया है।

कर्कश वचन की हेयता—भैया ! कर्कश वचन का घाव बहुत बुरा हो जाता है। इस मनुष्य जीवन में यदि बोलचाल के लिए जीभ पायी है तो उसका सदुपयोग करें। भूलकर भी किसी दूसरे के द्वारा कितना ही सताये गये हों फिर भी कर्कश वचन मुख से न निकलना चाहिए। घर में जितने कलह हो जाते हैं वे खोटे वचनों के कलह होते हैं। एक दूसरे का सम्मान नहीं रख सकते, उससे कलह बढ़ जाती है। जिन घरों में पुरुष, स्त्री का और बच्चों का भी अपने प्रति या बाप के प्रति बड़ा सुन्दर व्यवहार रहता है। कर्कश वचन भाषासमिति पालक साधु संतजनों के स्वप्न में भी नहीं निकलता है।

परनिन्दावचन की क्रोधचाण्डाल से भी अधिक चाण्डालता—इसी तरह निन्द्यनीय वचन है परनिन्दा का वचन। दूसरों में दोष हों उन्हें, अथवा न हों उन्हें बताते हुए वचन बोलना इसका नाम है परनिन्दा वचन, दूसरों की निन्दा करना बहुत बुरा दोष है। एक टूटीफुटी भाषा का पद्य है 'मुनीनां क्रोध चांडाल:, पशु चाण्डाल गर्दभ:। पक्षीनां काक चांडाल: सर्वचांडाल निन्दक:।।' मुनि का चांडाल है क्रोध, अथवा यों कहो कि क्रोधी मुनि चांडाल है, मुनि नहीं। मुनि के जो कषाय पड़ी हुई है वह है चांडाल। क्रोध मुनि के शोभा नहीं देता है। इससे भी गया बीता निन्दा का वचन है।

निन्दक की पशु चाण्डाल से भी अधिक मलिनता—पशुवों में चांडाल है गधा। कुछ इस ओर गधे को छू जाना दोष नहीं माना जाता, पर बुन्देलखण्ड में गधा छू जाय तो लोग नहाते हैं। नहाये बिना वे अपने को इतना अपवित्र मानते हैं जितना कि विष्ठा में पैर भिड़ जाने पर अपवित्र मानते हैं। क्यों गधा चांडाल है? कोई कारण होगा। एक तो गधा घूरे पर बना रहता है, गंदी चीजों में भी वह अपना मुख लगाता है, गन्दे स्थानों में भी वह लोटता रहता है, और दूसरे बुद्धिहीन है। और गन्दे भार लादने के काम किया करता है। कुछ भी हो पशुवों में चांडाल गधे को बताया है। निन्दक पुरुष पशु चाण्डाल से भी अधिक मलिन है।

परनिन्दक की काक चाण्डाल से भी अधिक मलिनता—पक्षियों में चाण्डाल कौवे को कहा गया है। कौवा खोटी चीज खाता है—थूक, कफ, विष्टा इन सब दुर्गन्धित, अपवित्र चीजों में यह कौवा अपना मुख लगाता है। एक ऐसी किम्वदन्ती है कि कौवा बैकुण्ठ में भगवान् के गांव में रहता था। सो वह भगवान् की बातें सुन ले और यहाँ आकर मनुष्यों को बता दे। जिसे चुगली कहते हैं, भगवान् की चुगली मनुष्यों से कर दे। जब भगवान् को मालूम पड़ा तो उन्होंने कौवों को श्राप दिया कि जा तेरा मुख गंदी चीजों में ही रहा करेगा। अब कौवे बड़े हैरान हो गये। कौवों ने सलाह की कि अपन मिलकर भगवान् से माफी मांगें। सो वे गये भगवान् से माफी मांगने, बोले—भगवान् !हमारी गलती क्षमा करें, हमें माफी मिल जाय, अब से कभी आपकी चुगली नहीं करेंगे। सो भगवान् ने कहा अच्छा जावो, 15 दिन की तुम्हें छूट दे दी जाती है। वही 15 दिन हैं असौज बदी एकम से अमावस तक के। जावो तुम्हारा मुख 15 दिन मीठा रहेगा। उन दिनों लोग उन्हें बुला-बुलाकर खिलाते हैं। जिस भगवान् की इसमें चर्चा है वह भगवान् भी कौवों की गोष्ठी के होंगे। तो पक्षियों में चाण्डाल कौवे को कहा है, निन्दक इससे भी मलिन है।

परनिन्दक की सर्वचाण्डालता—किन्तु भैया ! सबमें चाण्डाल है निन्दा करने वाला। अत्यन्त निंद्यनीय हैं परनिन्दक पुरुष। दो चार आदमियों में बैठकर दूसरे की निन्दा करना और मौज मानना, खुश होना, अमुक यों है, अमुक यों है ये सब परनिन्दा की ही तो बातें हैं। क्यों करते हैं लोग परनिन्दा? क्या लाभ मिलता है उन्हें? खुद के गुणों का विकास तो होता

नहीं। जितनी देर दूसरों की निन्दा में उपयोग लगाया जाय उतने काल तो इसका उपयोग मलिन रहता, गंदा रहता है। खुद का भी इससे कोई सुधार नहीं होता है, जिनको सुनाते हैं उनका भी कोई सुधार नहीं होता है, बल्कि जो निन्दा सुनने के व्यसनी हैं वे अपना रौद्रध्यान पुष्ट कर रहे हैं, उनका तो और बिगाड़ है और जिसकी निन्दा की जा रही है उसका भी सुधार नहीं है। किसी पुरुष में कोई ऐब हो और उसको दो आदमियों के समक्ष खोटे वचनों से बोलकर उस ऐब को छुड़ाना चाहे तो नहीं छुड़ा सकता। उल्टा वह और ऐबों में आ जायेगा। उसको लोग अकेले में भी डाटकर और निन्दा करके थोड़ा ऐब छुड़ाये तो भी वह नहीं छोड़ सकता।

परदोष छुटाने का उपाय—किसी के ऐब छुड़ाने का एक उपाय है। जिसमें ऐब है उसमें कोई भी गुण कुछ न कुछ है जरूर, सो पहिले उसके गुण का वर्णन करें, आपमें ऐसी कला है, आपमें ऐसा गुण है, आप ऐसे श्रेष्ठ हैं। गुणों का वर्णन करने के बाद फिर कहेंगे कि इतनी सी बात यदि और न होती तो आपका बड़ा उत्कर्ष होता। इस शिक्षा को वह ग्रहण कर लेगा। पर निन्दा से न निन्दक का भला, न निन्दा सुनने वालों का भला और न जिसकी निन्दा की जा रही है उसका भला है। पर निन्दा का वचन भाषासमिति में सर्वथा निंद्यनीय है। भाषासमिति के प्रकरण में उन 5 प्रकार के वचनों की चर्चा की जा रही है जिन्हें साधुजन रंच भी उपायों में नहीं लेते।

पञ्चम हेय वचन—पांचवां दुर्वचन है आत्मप्रशंसा का। अपने में गुण हों तो, न हों तो उनका स्तवन करना, बताना इसको आत्मप्रशंसा कहते हैं। अपने में गुण हों और उन गुणों के अपने ही मुख से प्रकट किया जाय तो उन गुणों में कमी आ जाती है। फिर वह कला इतनी उत्तम नहीं होती हैं। जैसे कोई कहे कि तुम मेरा गाना सुनो—मैं बहुत बढ़िया गाऊगा, ऐसा कहकर गाये तो उसके गाने में वह कला नहीं आ सकती। और दूसरे लोग उससे बहुत-बहुत कहें—अजी एक गाना तो सुना ही दो, और फिर उसे सुनाना ही पड़े तो उसके संगीत में आपको कला मिलेगी। अपने आप अपनी प्रशंसा करना यह भाषासमिति में योग्य नहीं बताया गया है।

भाषासमिति में हित, मित, प्रिय, वचन का ही स्थान—भैया ! इन 5 प्रकार के दुर्वचनों से दूर रहो। इसके अतिरिक्त इतनी बात का और ध्यान हो कि भाषासमिति के धारक साधु संतजनों के वचन हित, मित और प्रिय हों। ये तीन विशेषण उत्तम वचन बोलने के लिए बताये गये हैं। ऐसे वचन बोले जाय जो दूसरों का भला करें, हित करें। ऐसे वचन बोले जायें कि जो दूसरों को प्रिय लगें। हितकारी भी वचन हों और अप्रिय हों तो उस वचन को सुनकर वह हित में लग ही नहीं सकता। इसलिए वचन प्रिय भी हों, साथ ही अपनी रक्षा करने के लिए वचनालाप परिमित हो। अधिक बोलने वाले को क्षण-क्षण में अपने बोल पर पछतावा आता है, क्योंकि अधिक बकवाद करने से कोई वचन छोटे भी निकल सकते हैं, हल्के भी हो सकते हैं और न भी हल्के हों, बहुत-बहुत बोलने के बाद इसे कुछ ऐसा महसूस होगा कि मैं कितना व्यर्थ बकवाद कर गया हू। इस कारण हितकारी वचन हों, परिमित वचन हों और प्रिय वचन हों। ऐसे इन तीन प्रकार के सद्वचनों से सहित भाषासमिति का व्यवहार होता है।

इस प्रकार सभी खोटे वचनों को त्यागकर ऐसे वचन बोलना चाहिए जो अपने शुभ और शुद्ध प्रकृति का कारण हों और दूसरों के शुभ और शुद्ध प्रकृति का कारण हों, ऐसे वचनों का पालना सो भाषासमिति कहलाती है। जिस साधु पुरुषों ने समग्र वस्तुस्वरूप जान लिया है, जो संतपुरुष सर्व प्रकार के पापों से दूर हैं, जिनका चित्त अपना हित करने में सावधान रहता हैं ऐसे पुरुष अपने और दूसरे के भला करने के ही वचन बोला करते हैं।

मनुष्यों के पास अत्यन्त निकट वाला धन और है क्या? चार चीजें बतायी गयी हैं—तन, मन, धन और वचन। इन चारों में धन तो बिल्कुल अत्यन्त दूर की चीज है। तन, मन और वचन ये निकट की चीजें हैं। लेकिन व्यामोह में धन के पीछे तन का भी दुरुपयोग, मन का भी दुरुपयोग और वचन का दुरुपयोग किया करते हैं। धन तो अत्यन्त दूर की चीज है। यह तो तब तक लक्ष्मी की भांति स्थान रखता है जब तक इसके संतोषधन नहीं आता। जब संतोषधन आ जाता है तो ये सारे ठाटबाट धूल के समान विदित होने लगते हैं। भला बतलावो तो सही कि अचानक कभी गुजर गए तो फिर क्या इसके साथ जायेगा? चला गया यह। दिखता तो है। उसके साथ तो जो संस्कार किया है, जो कर्मबंध हुआ है उसके अनुसार वहाँ स्वयमेव ही नटखट वातावरण बन जायेगा और वहाँ सारी नई-नई चीजों का प्रसंग आ जायेगा। यहाँ का तो उसके साथ कुछ भी न जायेगा। अत्यन्त दूर की चीज है यह धन वैभव। निकट वाली चीज है तो तन, मन और वचन है। ऐसी दुर्लभता से ये तन, मन और वचन मिले हैं तो इनका सदुपयोग करने में ही हित है।

तन, मन, वचन का सदुपयोग—तन का सदुपयोग यह है कि दूसरों की सेवा करना, किसी जीव को बाधा न पहुंचाना। यहाँ तक कि कीड़ा, मकौड़ा और सभी प्रकार प्राणियों की रक्षा का यत्न रखना, यह है तन का सदुपयोग। और मन का सदुपयोग है सबका हित सोचना। किसी प्राणी को क्लेश न पहुंचे, यह है मन का सदुपयोग। वचनों का सदुपयोग यह है कि हित, मित, प्रिय वचन बोले जायें। हम दूसरे के भले के वचन बोलना चाहते हों और उनकी सेवा शुश्रूषा भी करना चाहते हों, लेकिन अप्रिय वचन बोल दें तो सब कुछ किया हुआ बेकार हो गया। कोई मनुष्य याचक जनों को कुछ दे देवे भोजन वस्त्र कुछ भी, और बुरे शब्द बोलता हुआ देवे तो यह पैसों से भी लुटा, यश से भी लुटा, पाप संचय भी किया। वचन हित, मित, प्रिय होने चाहियें।

अकर्कश वचन में स्वपरमोदता—जो अपने और पर के हितकारी शुभ और शुद्ध वृत्ति का कारणभूत वचन बोलते हैं वे संतजन क्यों न समता के धारी होंगे। देखिए किसी ने अच्छे वचन बोले तो बोलने वाले को भी शांति रहती है, और जिनको बोला उनको भी शांति रहती है तथा जितने सुनने वाले होंगे उन्हें भी शांति रहती है। कोई अप्रिय वचन बोले—कर्कश वचन बोले, बुरे वचन बोले तो पहले उसे अपने आपमें ही संक्लेश विकल्प मचाने पड़ेंगे, तब इतनी हिम्मत बनेगी कि मैं दूसरे को खोटे वचन बोल दू। और फिर वे खोटे वचन जिसे बोले जायेंगे वह भी दु:खी हो जायेगा। ये वचन बाण की तरह घाव किया करते हैं।

मुख धनुष, वचन प्राण—खोटे वचन बोलते हुए यह मुख बिल्कुल धनुष जैसा बन जाता है। जब खोटे वचन बोले जाते हैं तब उसके मुख का फोटो ले लो और चढ़े खींचे धनुष का फोटो ले लो—एकसा आकार हो जायेगा। नीचे का अर्द्धगोल धनुष की डंडी का और ऊपर की अर्द्धगोल धनुष की डोरी का बन जायेगा। इस तरह डंडी और डोरी का सा यह मुख का आकार बन जाता है और उस खींचे हुए धनुष से जब वचन बाण निकलता है तो जिसे बोला जाय उसके मर्म को छेद देता है। फिर बाद में लाखों उपाय करें कि वह निकला हुआ बाण वापिस आ जाय, उस भूल में कितनी ही मिन्नतें की जायें, पर वह बाण वापिस नहीं आ सकता। जैसे धनुष से निकला हुआ बाण वापिस नहीं आ सकता, इसी प्रकार मुखरूपी धनुष से निकले हुए वचन वापिस नहीं आ सकते।

वचनबाण की वापिसी की कठिनता—कदाचित् वचनबाण की चोट पहुंचाकर फिर आप उसकी प्रशंसा स्तवन करके भले ही कहें कि मेरे वचन वापिस कर दें, भूल से वचन निकल गए तो कुछ भले ही शांति हो जाय, पर वह शोभा की बात नहीं

रहती है और कोई तो अप्रिय वचन ऐसे होते हैं कि अप्रिय बोलने वाला सैकड़ों बार मिन्नत करे तो भी दिल की चोट नहीं मिटती है। अरे इसने पहिले तो वचनबाण से ऐसा मार दिया अब वह वापिस कैसे वापिस हो? वह होता ही नहीं है। मैं भी चाहता हू कि तुम्हारी बात को मैं भूल जाऊं, पर वह भूला नहीं जा सकता है। ज्ञान का काम तो जानना और स्मरण करना है, वह कैसे भूला जायेगा? सो वचन बोलने में बड़ी सावधानी रहनी चाहिए।

वचनों द्वारा मनुजप्रकृति परिचय—मनुष्य की पहिचान तो वचन से ही हुआ करती है। यह भला है या बुरा है—इसकी पहिचान वचनों से है। जहां उल्टे सीधे वचन बोले जायें वहाँ समझो कि इसका चित्त तुच्छ है। बहुत छोटीसी घटना है—राजा, मंत्री और सिपाही कहीं चले जा रहे थे। रास्ता भूल गए। सबसे पहिले सिपाही आगे निकल गया, उसे मार्ग में एक अंधा पुरुष मिला। उससे पूछा—क्यों बे अंधे ! इधर से दो आदमी तो नहीं गये हैं? अंधा बोला कि अभी तो नहीं गये हैं। वह आगे बढ़ गया। अंधे ने समझ लिया कि यह कोई छोटा मोटा सिपाही है। बाद में उसी रास्ते से मंत्री निकला पूछा—क्यों सूरदास, इस रास्ते से दो आदमी तो अभी नहीं गये? तो वह अंधा बोला कि अभी एक सिपाही आगे निकल गया है। अंधे ने सोच लिया कि कोई मंत्री होगा। वह मंत्री भी आगे बढ़ गया। बाद में राजा उसी मार्ग से निकला—अंधे से पूछा क्यों सूरदास जी इस मार्ग से कोई दो आदमी तो नहीं गये? अंधे ने समझा कि यह कोई राजा है, सो कहा, हाँ राजन् पहिले एक सिपाही निकल गया, उसके बाद में एक मंत्री निकल गया है। अब राजा भी आगे बढ़ गया।

वचनों द्वारा मनुजप्रकृति परिचय का विवरण—बाद में आगे चलकर जब तीनों मिल गये तो उस अंधे का किस्सा सुनाया। सबने सोचा कि उस अंधे ने कैसे जान लिया है कि यह सिपाही है, यह मंत्री है और यह राजा है, चलो इस बात को चलकर पूछे। तीनों ही उस अंधे के पास आये। पूछने पर अंधे ने बताया कि राजन् ! मैंने वचनों से पहिचाना था कि यह अमुक है, यह अमुक है। जिसने अबे अंधे कहा उसको मैंने समझ लिया कि यह कोई छोटा ही आदमी सिपाही वगैरह होगा और जिसने कोई सूरदास कहकर पूछा था, उसे मैंने समझ लिया कि यह कोई राजा के निकट का व्यक्ति मंत्री वगैरह होगा और जिसने अंत में कहा, सूरदास जी कहकर पूछा था, उसे मैंने समझ लिया था कि यह कोई राजा होगा।

भाषासमिति के वचनों की शीतलता—तो भैया ! वचनों से मनुष्यों के भले और बुरेपन की पहिचान होती है। वचन ऐसे बोलने चाहिये जिनसे अपना भी हित हो और दूसरों का भी हित हो। हित, मित और प्रियवचन बोलने को भाषासमिति कहते हैं। भाषासमिति के पालक साधु के वचनों की शीतलता जिस संताप को मिटा देती है उस संताप को चंदन आदि की शीतलता मिटाने में समर्थ नहीं है।

वचनगुप्ति के यत्नशील—जो साधुजन परमब्रह्म शाश्वत चित्स्वरूप में निरत रहा करते हैं ऐसे उन ज्ञानीजनों की अन्य जल्पों से भी प्रयोजन नहीं रहता, फिर बहिर्जल्प की बात ही क्या है? मुनिजनों का वचन के प्रसंग में सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य वचनगुप्ति का है। वे किसी भी प्रकार का अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प न करके परमब्रह्म के अवलोकन में ही निरत रहते हैं, यह उनका मुख्य लक्ष्य है। ऐसे प्रयत्नशील संतजन अन्तर्जल्प को भी संयत करने का यत्न करते हैं, फिर बहिर्जल्प की तो कहानी ही क्या है? उससे तो दूर ही रहना चाहते हैं, फिर भी स्वपर हित के प्रयोजन से कुछ बोलना पड़े तो भी साधु पुरुष हित, मित, प्रिय वचन बोलते हैं—ऐसे वचनों को कहा जाय जो स्वपर-हितकारी हों, दूसरे के सुनने में प्रिय हों और परिमित हों, ऐसे वचन बोलने को भाषासमिति कहते हैं। यहाँ तक भाषासमिति का वर्णन करके एषणासमिति का वर्णन अब प्रारम्भ किया जाता है।

गाथा 63

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसधासमिदी॥63॥

साधुवों के आहार की निरपेक्षता—दूसरे के द्वारा दिये गए और कृतकारित मोदना से रहित प्रासुक और प्रमाद आदिक दोषों को न करने वाले ऐसे वचन ग्रहण करना सो एषणासमिति कहलाती है। एषणा का अर्थ है खोज। अपने आहार की खोज करना, इसका नाम एषणासमिति है और विधिपूर्वक साधनानुकूल शुद्ध आहार की खोज करना सो एषणासमिति है। मुनिजन स्वयं आरम्भ नहीं करते हैं, इसके दो कारण हैं—एक तो भोजन में इतनी आसक्ति नहीं है कि उस भोजन की व्यवस्था के लिए स्वयं कोई यत्न करें। जैसे जिस रोगी को अपना रोग मिटाने के विषय में ख्याल नहीं है तो उसका इतना यत्न न होगा कि अपनी औषधि का फिक्र रक्खे, स्वयं बनाए और श्रम करे। उसे दूसरे ही बनाते खिलाते है तब खाते हैं। यों ही ज्ञानीसंत जिनको अपने आत्महित की धुनि लगी हुई है ऐसे पुरुष को अपने आहार आदिक की धुन नहीं है, आसक्ति नहीं है कि वह स्वयं आहार का आरम्भ करे। तब फिर चूंकि शरीर की स्थिति आहार बिना नहीं रहती है सो ऐसी स्थिति में शुद्ध प्रासुक विधिवत् आहार करना, इसे एषणासमिति कहते हैं। साधु दूसरों के द्वारा भक्तिपूर्वक दि गए आहार को ग्रहण किया करते हैं।

नवकोटिविशुद्ध आहार—आहार की ऐसी एषणा में कारणभूत दूसरी बात यह है कि आहारविषयक आरम्भ करने पर उसमें हिंसा का भी दोष होता है। और वह मुनि 6 कायों की हिंसा से सर्वथा दूर है, इस कारण भी आहारविषयक आरम्भ वे नहीं करते हैं तब वे दूसरों के द्वारा भक्तिपूर्वक दिये गये आहारों को ही ग्रहण करते हैं। वे आहार स्वयं नहीं बनाते हैं और न दूसरों से कहकर बनवाते हैं और न उसमें वे अनुमोदना करते हैं कि अमुक-अमुक तरह से भोजन बनावो। ऐसी कृतकारित अनुमोदना से हित और मन के संकल्पों से रहित वे साधु जन होते हैं। इस प्रकार का आहार बनाएं ऐसा मन से भी संकल्प नहीं रखते, वचन से भी सम्बन्ध नहीं रखते और शरीर का तो सम्बन्ध ही क्या है? यों नवकोटि से विशुद्ध आहार को साधुजन ग्रहण करते हैं। वह आहार प्रासुक होना चाहिए, जीव जंतु के संसर्ग से रिहत होना चाहिए, त्रस आदिक जीवों की हिंसा से रहित आहार हो, ऐसा प्रासुक आहार ही साधुजन ग्रहण करते हैं और साथ ही प्रशस्त आहार हो जो प्रमाद न बढ़ायें, जो परिणामों में कलुषता उत्पन्न न करे, ऐसा शुद्ध आहार साधु पुरुष लिया करते हैं।

नवधाभक्ति की अनिवार्यता—शुद्ध प्रासुक आहार को भी साधु नवधाभक्ति देख करके लेते हैं। साधु देख लेते हैं कि श्रावक में उचित भक्ति है या नहीं और जैसी विधि हो उसी विधि में पड़गाहा है कि नहीं और शुद्ध विधि में इसकी उसही प्रकार है कि नहीं, इन सभी बातों को साधुजन देखते हैं। यदि ये सब बातें ठीक-ठीक हैं तो वे आहार ग्रहण करते हैं। यहाँ कोई लोग यह शंका कर सकते हैं कि साधुजन तो सन्मान में अपमान में समान बुद्धि रखते हैं तो आहार के समय इतना क्यों निरीक्षण रखते हैं? इसकी भक्ति यथार्थ है, इसकी यथार्थ भक्ति नहीं है, ऐसा निरीक्षण वे क्यों करते हैं? समाधान उसका यह है कि साधुवों के पास यह जानने का और कोई उपाय नहीं है कि इसके यहाँ आहार शुद्ध और विधिपूर्वक बना है या नहीं। वे किसी से पूछते तो हैं नहीं, मौन से उनकी चर्या होती है। संकेत और इशारा भी नहीं करते हैं। सो साधुजन क्या उपाय कर सकें जिससे यह पहिचान जायें कि इसके यहाँ भोजन शुद्ध प्रासुक और विधि सहित बना हुआ है, इस बात के पहिचानने का उपाय साधुजनों को नवधाभक्ति को उचित देख लेना ही रह गया है। वे नवधाभक्ति को

देखकर यह जान जाते हैं कि यह आहार विधि से परिचित पुरुष हैं, इसने विधिपूर्वक आहार प्रासुक बनाया है, फिर वे ग्रहण करते हैं।

साधुवों की आहार में अनासक्ति —साधुजन अंतराय टाल कर आहार ग्रहण करते हैं। साधुवों का आहार ग्रहण निरपेक्षता पूर्वक होता है। जैसे जंगल में हिरण घास खाते हैं तो उनको घास खाने में अधिक आसक्ति नहीं होती है। जैसे बिलाव में चूहे खाने की इतनी आसक्ति है कि उसे डंडे भी मारो तो भी वह चूहे को छोड़ नहीं सकती। पशुवों में सबसे अधिक आसक्ति बिलाव में है और सबसे कम आसक्ति हिरणों में है। वे जंगलों में घास खा रहे होंगे और थोड़ी भी आहट आये तो तुरन्त सावधान हो जाते है। कभी देखा होगा तो समझ गये होंगे कि हिरण अपने भोजन में अनासक्त रहते हैं। यह तो एक उदाहरण की बात कही है। साधुजन अपने आहार में इतने अनासक्त होते हैं कि कोई थोड़ी बाधा आ जाय, जो दोष करने वाली हो, मन में ग्लानि करे अथवा बाह्य में हिंसा हो, इस प्रकार का कोई भी अन्तराय आये तो वे आहार छोड़ देते हैं।

आहार में मुख्यदोष—आहार में मुख्य दोष चार बताये गए हैं, और उनसे भी मुख्य दोष एक अध:कर्म है। अध:कर्म क्रिया से निमित भोजन अत्यन्त सदोष भोजन है याने जो असावधानी से बनाया गया हो, अनछने जल से तैयार किया गया हो, चीजों को समेटकर सारी क्रिया की जा रही हो, मर्यादा से अधिक आटा सामग्री हो, उससे बनाया गया भोजन, कई दिन का पड़ा हुआ भोजन अथवा रात्रि के समय का बनाया हुआ भोजन ये सब अध:कर्म दोष से दूषित हैं। साधुजन अध:कर्म निमित आहार को ग्रहण नहीं करते हैं। आजकल में चर्या के लिये अधिक प्रचलित एक दोष बताया है उद्दिष्ट दोष, किन्तु अध:कर्म दोष तो मुख्य दोष है। कोई साधु उद्दिष्ट दोष का तो बड़ा ध्यान रखे और अध:कर्म दोष का कुछ भी न ख्याल रक्खे तो यह उसकी विपरीत बुद्धि है। ऐसा भोजन जो खूब जगह-जगह मिल जाता है। कोई बना रहा हो, किसी भी जाति का हो, सब जगह भोजन तैयार रहता है वह सब अनुद्दिष्ट भोजन है। वह साधु को आहार कराने की दृष्टि से नहीं बनाया गया है। तो क्या वह आहार निर्दोष है? और उद्दिष्ट का बाबा अध:कर्म दोष उसमें पड़ा हुआ है।

आहार के चार महादोष—अध:कर्म के अतिरिक्त चार महादोष ये हैं—(1) अङ्गार, (2) धूम, (3) संयोजना, (4) अतिमात्र। किसी वस्तु की मन में निन्दा करते हुए, ग्लानि करते हुए भोजन करना। इसने बड़ा रूखा भोजन बनाया, वह बड़ी कंजूसी से परस रहा है अथवा किसी भी प्रकार के दातार की निन्दा मन में करते हुए भोजन करते जाना यह धूम नामक महादोष है। अंगार दोष—यह वस्तु स्वादिष्ट है और मिले, ऐसी अत्यासक्तिपूर्वक भोजन करते जाना सो अंगार दोष है। गरम ठंडा आदि परस्पर विरुद्ध पदार्थों को मिलाकर खाना संयोजना दोष है। शास्त्रोक्त भोजन के परिणाम से अधिक-अधिक भोजन करना, सो , अतिमात्र नामक दोष है। सब महादोषों से रहित शुद्ध प्रासुक आहार को साधुजन ग्रहण करते हैं।

आहार में अनाहारस्वभावी आत्मा का स्मरण—आहार करते हुए में साधु के बार-बार यह स्मरण चलता रहता है कि मेरा आत्मा तो आहार से रहित शुद्ध ज्ञानमात्र प्रभु है। इसमें तो आहार है ही नहीं। आहार तो एक दोष है। आहार करते हुए भी अनाहारस्वभावी अपने आत्मा का ध्यान करते जाते हैं और यह भी स्मरण रखते हैं कि मेरा विकास है अरहंत और सिद्ध की अवस्था। इसका जो उद्यम है वह अरहंत और सिद्ध अवस्था पाने के लिए उद्यम है। जो दशा अनन्तकाल तक बिना आहार के शुद्ध आनन्दमय रहा करती है उस स्थिति के पाने में मेरा यत्न हो, कहां यहाँ इस आहार के झंझट में पड़ा हुआ हू, ऐसा उनके आहार करते हुए में खेद बनता है। कोई लोग तो आहर करके मौज मानते हैं, बहुत शुद्ध, बहुत

रसीला भोजन बना और साधुजन भोजन करते हुए खेद कर रहे हैं कि अनाहार स्वभावी इस मुझ आत्मा को जो प्रभुवत् निर्मल है, शुद्धज्ञायकस्वरूप है। यहाँ कहां आहार जैसे झंझट में लगा रहा हू? आहार प्रक्रिया में भी खेद मानते हैं, मौज नहीं मानते हैं।

आहार लेने की विवशता—भैया !साधु आहार से निरपेक्ष होते हैं, उन्हें आहार करना पड़ता है। शरीर लगा हुआ है, उसमें क्षुधा की वेदना पड़ी हुई है, उस वेदना को दूर कर ध्यान में लगा करते हैं। और वेदना ही क्या, वेदना का तो इसमें कुछ प्रवेश ही नहीं है, कितनी ही वेदनाएं हों किन्तु ये वेदनाएं बढ़कर प्राणघात कर देती हैं। ये प्राण भी द्रव्यप्राण हैं ना, परवस्तु हैं, मेरे स्वभाव नहीं हैं; किन्तु अचानक ही मेरे सावधान हुए बिना मेरी अंतरङ्ग में पूरी प्रतिष्ठा हुए बिना अर्थात् ज्ञानानुभूति में स्थिर हुए बिना यदि यह जीवन बीच में ही बुझ गया तो आगे क्या हाल होगा? अन्य देह होना पड़ेगा। ओह जब साधु को यह झनक आती है कि मुझे मरकर देव बनना पड़ेगा तो इसका भी विषाद उनके होता है।

अज्ञानियों की देवगति में रुचि—अज्ञानी जन तो देव होने के लिए तरसते हैं। भाई यह पुण्य काहे को कर रहे हो? अरे पुण्य करेंगे तो देव बनेंगे, भोग मिलेंगे, एक से एक सुन्दर देवांगनायें मिलेंगी। छोटे से भी छोटे, खोटे से भी खोटा देव हो तो भी उसकी कम से कम 32 देवांगनाए होती हैं, और बड़े देव हुए तो वहाँ तो सैकड़ों और हजारों देवांगनाए हो जायेंगी। वहाँ चिंता क्या है, वहाँ खेती नहीं करना है, रोजिगार नहीं करना है। वहाँ देवों को और देवियों को सैकड़ों हजारों वर्ष में भूख लगती है, तो उनके कंठ से कोई अमृतसा झड़ जाता है। होगा कोई एक खासा थूक जैसे अपने कंठ से भी कभी हर्षोत्पादक थूक गले में उतर जाता है, ऐसे ही उनके कंठ से कुछ और कल्पित अमृतसा झड़ जाता है। हित नहीं है वह। लोभ कषाय देवों में इतनी प्रबल हैं जितनी मनुष्यों में प्रबल नहीं हैं। लोग समझते हैं कि लोगों को लोभ कषाय बहुत तेज लग रही है। अरे लोगों का लोभ कषाय तेज नहीं है, मान कषाय तेज है, वह धन का संचय भी मान कषाय को पुष्ट करने के लिए किया करता है।

साधुवों की देवगति में अरुचि—जब साधुजनों को यह झनक आती है कि ओह मरकर देव होना पड़ेगा, सम्यग्दर्शन होने पर मनुष्य को देव आयु का बंध होता है, अन्य आयु का बंध नहीं होता है। अरे धर्मकार्यों में तो लगे हुए हैं और रत्नत्रय की साधना उत्कृष्ट बन पायी है, ऐसी स्थिति में मरण होगा तो देव ही तो बनना पड़ेगा। अहो यहाँ तो बड़ा आनन्द लूट रहे हैं ब्रह्मस्वरूप के अनुभव का, ज्ञानानन्द का और वहाँ जाकर उन देवियों में रमना पड़ेगा, उनका चित्त प्रसन्न रखते रहना पड़ेगा और विषयों में फंसना होगा। यहाँ तो ब्रह्मचर्य की परम साधना कर रहा हू और अन्तर में यह भावना रखता हू कि हे प्रभु !अब जब तक मुक्ति नहीं होती मेरी, तब तक ब्रह्मचर्य रहो। शेष के भव-भव में ऐसी भावना भायी है और इस मुझको वहाँ ब्रह्मचर्य का घात करने में, देवियों को प्रसन्न करने में उलझना पड़ेगा। मुझे इस बात का खेद होता है।

देवगति की पर्याय में भी ज्ञानियों का ज्ञान—हमारे ये ऋषि संतजन कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्र, अकलंक आदि-आदि सभी आचार्य जो कि ज्ञान और वैराग्य से परिपूर्ण थे, जिन्होंने देवगति को हेय माना था और भोग विषयों को बड़ा निंद्य बताकर दुनिया में प्रसिद्ध किया था। जिनके स्वप्न में भी भोग और उपभोग की वासना न थी, उन आचार्यों की आत्मा अब यहाँ नहीं है, उनका देहांत हो गया है। भला कल्पना तो करो कि वे आचार्यगण मरकर कहां उत्पन्न हुए होंगे? आपकी कल्पना में आ रहा होगा कि वे देव ही हुए होंगे। अब देव बनकर क्या कर रहे होंगे? ओह सभा जुड़ी होगी, नाच गान हो रहा होगा, देवांगनाए नृत्य कर रही होंगी और अपना मन बहलाने के लिए द्वीप द्वीपान्तरों में यत्र तत्र विहार कर

रहे होंगे और वे भी भोगोपभोग में रमे होंगे। क्या करें, उन्हें करना पड़ रहा होगा, लेकिन सम्यग्ज्ञान वहाँ भी जागृत है तो उस भोगोपभोग की स्थिति में भी वे विरक्त होंगे और अपने इस शुद्ध चित्स्वरूप परमब्रह्म की ओर ही उनका लक्ष्य होगा।

प्रतिग्रहरूप में भक्तों के आग्रह का रूप—खैर, साधुजन इतने निष्पृह होते हैं कि उनके आहार की रुचि नहीं है फिर भी करना पड़ता है। भला बतलावो जिसको रुचि न हो, जिसे आसक्ति न हों उसे कोई बहुत मनाकर खिलाये तब ही पेट में भोजन पहुंच सकता है। जिस बालक को खाने में रुचि नहीं है, खेल ही खेल में भागता फिरता है उस बालक को मां बहुत मन कर खिलाती है तब एक दो रोटी खा पाता है, और थोड़ा ही पेट में कुछ पहुंचे तो झट हाथ धोकर भाग जाता है। यों ही साधु संतों को आहार करने में आसक्ति नहीं है। इस कारण इन साधुवों के उपासक श्रावक जन मना-मनाकर बड़ी भक्ति करके, बड़ा सत्कार करके उन्हें खिलाते हैं तब जाकर साधुसंतों के पेट में कुछ भोजन पहुंचता है, किन्तु थोड़ी ही उदर की पूर्ति हुई कि झट हाथ धोकर अपनी आहार क्रिया समाप्त करके शीघ्र ध्यान के अर्थ, अपने आत्मशोधक के अर्थ चले जाया करते हैं। उन साधुवों के एषणासमिति होती है।

आहार की नवकोटि विशुद्धता—टीकाकार पद्मप्रभमलधारी मुनि साधु संतों का आहार कैसा होना चाहिए—इस सम्बन्ध में कह रहे हैं कि पहिले तो नवकोटि से विशुद्ध होना चाहिए। यह साधु के हाथ की बात है। न करें न करायें, न अनुमोदे, न संकल्प करें, न वचन से कहें, न शरीर से श्रम करें तो वह नवकोटि विशुद्ध आहार हो जाता है।

आहार की प्रशस्तता—दूसरी बात, वह अति प्रशस्त होना चाहिए। इसका अर्थ देते हैं कि मन को हरने वाला भोजन होना चाहिए। काला कलूटा बुरे रंग का न होना चाहिए। यद्यपि साधुसंत सबमें समता रखते हैं मगर करें क्या, जिनको आहार करने की रुचि नहीं है और जबरदस्ती मनाकर खिला रहे हैं उन्हें तो थोड़ा भी मैलाकुचैला दिखेगा तो जान जायेंगे कि इस श्रावक में कोई कला ही नहीं है। कलारहित होगा बनाने वाला, और जो कलाहीन होगा बनाने वाला उससे शुद्ध भोजन का निर्बाध निर्माण भी कठिन होता है। कितनी ही बातें उससे ज्ञात हो जाती हैं, इसलिए भोजन रूप रंग का भी सुन्दर मन को हरने वाला होना चाहिए। क्यों ऐसा होना चाहिए? उन्हें जबरदस्ती श्रावक खिला रहा है, रुचि नहीं है, सो भिक्त करके जैसे भी उनका मन रम जाय थोड़ा बहुत वैसा यत्न करके आहार कराया जा रहा है। तो आचार्यदेव कहते हैं कि वह भोजन मन को हरण करने वाला होना चाहिए।

प्रासुक आहार की आहार्यता—आहार प्रासुक भी हो। पत्तियों में कोई कीड़े चढ़ जाते हैं या और कोई छोटे-छोटे जंतु रहते हैं तो उन्हें न खाना चाहिए। एक साग होता है गोभी, उसे कहते है गोभी फूल। कैसा लगता होगा? मीठा है क्या है, हमें पता नहीं, उसमें जीव बहुत भरे रहते हैं। उसे काँसे की थाल में झाड़ दो तो आपको वे सारे जंतु दिख जायेंगे। एक क्षणिक सेकेण्ड भर की जिह्वा के स्वाद के पीछे हिंसामय भोजन करना और जीवों के विनाश का कारण बनना यह तो योग्य नहीं है। और जब सारा ही भोजन छूट जायेगा अरहंत बनने पर तो अभक्ष्य पदार्थ में तो रुचि अभी से छूट जाना चाहिये।

अरहंत होने के प्रोग्राम की धुन—सोच लो आपको अरहंत बनना है कि नहीं, भीतर से जरा जवाब तो दो कि ऐसे ही लटोरे घसीटे रहना है संसार में? कुछ अन्दर से बात तो निकले। हाँ हो सकता है कि अरहंत के इतने विशाल वैभव को सुनकर उत्तर दे सको कि हाँ, बड़ा समवशरण हैं, हजारों पुरुष उनकी सेवा में प्रणाम, वंदन करने आते हैं, इतना ध्यान

देकर शायद कि हाँ होना है, अब जरा ध्यान से सुनिये अरहंत अवस्था इतनी विशुद्ध अवस्था है कि जहां कोई दोष नहीं है, कोई संकट नहीं है, जन्ममरण भी जहां नहीं रहता है, ऐसी अवस्था चाहिए ना? हाँ चाहिए। उस अवस्था में सदा के लिए आहार छूट जायेगा, वहाँ बाधा ही कुछ न होगी। वहाँ अनन्तबल रहा करता है। तो सदा आहार न किया जायेगा, ऐसी स्थिति की तो धुनि बनायी है और वर्तमान में भक्ष्य अभक्ष्य का भी विवेक न करें यह अपने लिए कितने खेद की बात है।

गृहस्थों का अनिवार्य संयम—भैया ! कम से कम इतनी बात तो जगना ही चाहिए प्रत्येक गृहस्थ में कि जैसे गोभी फूल है, सड़ी बासी पूड़ी हैं, बाजार की चीजें हैं, दही, जलेबी आदि हैं ऐसी चीजों का भक्षण तो न करें और रात्रि में बनी हुई चीजों का क्या विश्वास? वे तो जीवघातमय हैं। रात्रि को न कुछ खायें न बनायें। इन दो चार बातों का ही इन साधुवों की एषणासमिति का वर्णन सुनकर नियम कर लें, उस विधि से चलें तो यह हम आपके लिए भले की बात है।

आहार विहार का प्रयोजन—जैसे सरसों के तेल वाले दिये में दो काम किये जाते हैं—तेल भरा जाता है और बाती उसकेरी जाती है, सभी जानते हैं। सरसों के तेल का दिया जलायें तो उसमें बीच-बीच में बाती में तेल चढ़ता है और जब तेल सूख जाता है, कम हो जाता है तो उसमें तेल डालना पड़ता है। तो बाती का उसकेरना किसलिए किया जाता है कि यथावत् प्रकाश बना रहे और तेल डालना किसलिए किया जाता है कि उसमें यथावत् प्रकाश बना रहे, ऐसे ही प्रकाशपुञ्ज साधुपुरुष में बाती उसकेरने की तरह पैरों की उसकेरने की जरूरत पड़ती है अर्थात् विहार करने की आवश्यकता होती है और तेल डालने की अर्थात् पेट में भोजन डालने की आवश्यकता होती है। यह आहार और विहार साधुजन इसलिए किया करते हैं कि यथावत् शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र बना रहें।

योग्य आहार विहार के अभाव में आपत्ति—भैया ! लोग कहते भी हैं, रमता जोगी बहता पानी। साधुजन स्वच्छ रहा करते हैं। साधुजन यदि विहार न करें, एक ही स्थान पर वर्षों बने रहें तो उनके परिणाम में रागद्वेष की कोई बात आती रहेगी, इसलिए यथावत् मोक्षमार्ग में लगें, ज्ञानप्रकाश बना रहे, इसके लिए साधुजन विहार करते हैं, और शरीर में क्षुधा की वेदना होती है उसका प्रतिकार न करें। जैसे दिया में तेल न डालें तो प्रकाश बंद हो जायेगा, यों ही उदर में भोजन पानी न डालें तो आत्मसाधना भी दुर्गम हो जायेगी, इसके लिए वे आहार करते हैं। आहार करते हुए में उनकी यह वृत्ति रहती है कि पेट का गड्ढा भर लिया, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि शुद्ध-अशुद्ध भक्ष्य-अभक्ष्य किस ही प्रकार के भोजन से उदरपूर्ति करें, हाँ स्वाद लेकर नहीं, मौज मानकर नहीं, किन्तु उदरपूर्ति करना है इस प्रकार से आहार करें।

साधु की भिक्षा पद्धति—साधु की चर्या वृत्ति को तीन प्रकार से पुकारा गया है—गर्तपूरण वृत्ति, गोचरी वृत्ति और भ्रामरी वृत्ति। गर्तपूरण वृत्ति का भाव यह है कि उदर एक गड्ढा है, उसको पूर लेना। यह पकवान है, यह सरस भोजन है, यों न देखना, अपने गर्त को, नीरस, सरस कैसा ही आहार हो, उसका विकल्प न करके पूर्ण कर लेना गर्तपूरण वृत्ति है। गोचरीवृत्ति का अर्थ यह है कि जैसे गऊ घास खाती है, उसको घास डालने के लिए चाहे कोई नई बहू बड़े गहने पहिनकर आए, कोई बड़े शोभा शृङ्गार से आये या कोई बुढ़िया आए, या कोई पुरुष आये, बूढ़ा आये, या बालक आये उसे इनसे मतलब नहीं है, इनका रूप वह नहीं देखती है। उसे घास खाने से मतलब। इसी प्रकार साधु जनों को चाहे कोई रूपवती स्त्री आहार दे, चाहे बूढ़ा पुरुष दे, चाहे बालक आहार दे, किसी भी प्रकार के रूप की ओर साधुपुरुष की

दृष्टि नहीं होती है। उन्हें तो मात्र अपनी उदरपूर्ति से प्रयोजन है। भ्रामरीवृत्ति वाले भ्रमर की तरह आहार की खोज करके किसी भी जगह आहार लेने आते हैं। जिसमें बाधा न आए वह भ्रामरीवृत्ति है।

साधु का 46 दोषरहित आहार—ये संतजन यद्यपि गर्तपूरण के लिए आहार करते हैं, किन्तु भक्ष्य अभक्ष्य का वे विवेक रखकर करते हैं। 46 दोष टालकर साधुजन आहार करते हैं। वे 46 दोष कौन है? 4 तो हैं महादोष, जो पहिले बता दिये थे और 42 दोष ये हैं। 16 उद्गम दोष हैं जो श्रावक के लिए लगा करते हैं, साधुजन उन दोषों को नहीं करते हैं श्रावक करते हैं, किन्तु साधु को मालूम हो जाय तो साधु फिर आहार नहीं लेता। 16 उत्पादन दोष हैं उन्हें पात्र करता है, श्रावक नहीं और 10 अनशन सम्बन्धी दोष हैं इस प्रकार ये 42 दोष हैं।

आहार का उद्दिष्ट और साधिक दोष—उदाहरण के लिए देखिये—(1) केवल साधु के लिए ही आहार बनाया गया हो, आधपाव तीन छटांक की रोटियां बनाकर और थोड़ा साग वगैरह एक आदमी के लिए बनाकर धर दे और कहें कि हमें तो अमुक साधु को भोजन कराना हैं, लो प्रबंध कर लिया फिर घर भर का भोजन अशुद्ध बने, अन्य स्थान पर बने तो ऐसा आहार साधु नहीं लेता है। साधु अगर जान जाय कि यही आहार घर भर करेगा तो वह आहार को लेता है। (2) भोजन बनाया जा रहा है और बीच में ही ख्याल आ जाय कि हमें साधु को भी आहार कराना है ऐसा बनाते हुए में थोड़ी खिचड़ी उसी में और डाल दो साधु के नाम पर और पका ली तो ऐसा आहार साधु के योग्य नहीं है। ऐसा दोष साधु नहीं करता है, गृहस्थ किया करता है।

आहार का पूर्ति, मिश्र व प्राभृत दोष—(3) प्रासुक वस्तु में अप्रासुक वस्तु मिला देना, यह भी साधु के आहार में दोष है। (4) ऐसा ख्याल करके आहार बनाए कि हमें तो सभी को आहार देना है, पाखण्डी भी आ जाय तो, साधु आ जाय तो, सबको यही आहार बनावेंगे तो ऐसा भोजन साधु के लिए योग्य नहीं होता है। (5) श्रावकजन ऐसा भी नियम कर सकते हैं कि मैं अमुक दिन शुद्ध खाऊंगा व साधु को आहार कराऊगा योग मिलेगा तो। ऐसा श्रावक पहिले नियम लिया करते थे, और इस नियम से बहुत सुन्दर व्यवस्था रहती थी। सभी लोग अपने-अपने घरों में साधु को आहार करा लेते थे। उससे साधुजनों को भी कोई परेशानी न होती थी। अब मान लो किसी ने चतुर्थी को आहार कराने का नियम लिया और वह बदलकर दोज को कर ले या एक दो दिन बाद में कर ले तो वहाँ भी एक दोष आता है। क्योंकि कुछ भी बात बदलने से कुछ अड़चन और परिणामों में संक्लेश होता है।

आहार का बलि, न्यस्त व प्रादुष्कृत दोष—(6) कोई किसी देवता को चढ़ाने के लिए आहार बना रहा है और उस आहार को साधुजनों को भी दे तो यह योग्य आहार नहीं है। (7) जिस बर्तन में भोजन बनाया है उस बर्तन से थोड़ा बहुत सामान निकाल अलग रख लिया और बाकी भोजन सामग्री अलग कर दिया तो ऐसा आहार भी साधु के लिए योग्य नहीं है। आजकल इसी की बड़ी प्रथासी दिख रही है। (8) साधुजन चौके में आयें और उस ही समय कुछ विशेष स्थान तैयार करवाया जाय, चौके के, भोजन के बर्तन यहाँ के वहाँ सरकायें जाय, ले जाय या कहीं किवाड़ खोल दिया, कहीं की राख कहीं छोड़ दिया, या बर्तन साफ कर लिया, या उस समय कुछ और भी आरम्भ किया जाय तो ऐसी स्थिति में साधुजन आहार नहीं लेते हैं।

क्रीत, प्रामित्य व परिवर्तित दोष—(9) आ गया साधु आहार करने और उसी समय अमुक चीज नहीं है, चुपके से दूसरे से कहा कि और ले आवो असी समय जाकर—ले आया दौड़कर कहीं से कोई सामान तो ऐसा आहार साधु के योग्य

नहीं है। (10) कोई मनुष्य उधार लेकर भोजन बनाए, ब्याज पर उधार लेकर या किसी प्रकार से उधार लेकर और फिर उससे आहार बनाकर खिलाए तो वह आहार साधुजनों के योग्य नहीं है। (11) भिक्षा के लिए साधु आ जाय और उस समय कोई चीज पड़ौस से बदल लावे कि यह चीज तुम ले लो और इसके एवज में एक छटांक घी हमें दे दो ऐसा बदला बदली से तैयार किया गया आहार भी साधु के लिए योग्य नहीं है।

आहार का निषिद्ध व अभिहृत दोष—(12) आहार देते समय कोई किसी चीज को मना कर दे तो मना किए गये आहार को फिर लेने की इजाजत साधु को नहीं है। जैसे बैठे हैं बहुत से लोग कोई किसी चीज को दे रहा हो और कोई-कोई कहे यह नहीं, यह दो तो वह साधु किसी चीज को ले अथवा न ले, पर किसी के द्वारा निषेध किया गया आहार फिर साधु नहीं लेता है। (13) ऐसे ही अटपट अलग बाहर के मुहल्ले में बना हुआ भोजन किसी दूसरे मुहल्ले में ले जाय तो ऐसे आहार को भी साधुजन नहीं लेते हैं।

उद्भिग्न दोष—(14) साधु के ही आने पर किसी सीलबंद डिब्बे वगैरह को खोला जाय और उसमें से निकालकर चीज दी जाय तो वह आहार भी साधुजन नहीं लेते हैं। आप सोचिए—कितना सरल और सात्त्विक विधान है आहार लेने का किन्तु लोग व्यर्थ ही परेशान होते हैं, घंटा भर पहिले से ही चूल्हा बुझा दिया और उसको ऐसा साफ कर दिया कि खाने वाला यह सोचकर हैरान हो जाय कि यह आहार देवतावों ने आकर टपकाया है या इसने अपने घर में बनाया है। और घंटों पहिले से चूल्हा बुझाकर पड़गाहने के लिए खड़े हैं। अरे पड़गाहना तो उस समय है जिस समय आपको भोजन करना है—इससे पहिले देख लो। इससे पहिले यदि कोई साधु आता होगा तो वह अपने आप ही आँगन तक चला जायेगा, न भी आप खड़े हों। हाँ कोई ऐसा चिह्न लगा हो चौके का जिससे यह जान जाय कि साधु कि यह शुद्ध भोजन करने वाले श्रावक का घर है। वह साधु आँगन तक पहुंच सकता है।

आच्छेद्य व मालारोहण दोष—(15) कोई पुरुष बड़े आदमी के, राजा मंत्री आदि के नाराज होने के भय से साधु को आहार कराये तो वह आहार सदोष है। साधु को मालूम हो जाय तो साधु वह आहार नहीं लेता। (16) कोई मनुष्य अटारी पर चढ़कर आहार देने की चीज लाकर देवे तो साधु आहार नहीं लेता है क्योंकि इस तरह आहार लेने लगें और श्रावकों में आदत बन जाय तो सीढ़ी से पैर फिसलकर गिर जाय तो श्रावक की क्या दशा हो? वैसे भी साधु के भोजन के समय श्रावक के कुछ न कुछ घबड़ाहट रहा करती है और सीढ़ी से नीचे उतरने में कहीं गिर जाय तो ऐसी स्थिति में तो विडम्बना खड़ी हो सकती है। साधुजन बिल्कुल सात्त्विक ढंग से, सीधे ढंग से आहार लेकर चले जाते हैं। साधुवों का आहार कठिन नहीं है, बिल्कुल सरल है। साधुजन आपके भोजन बनाते हुए में पहुंच जाये, उस काल में सामने कोई चीज न बनाकर चूल्हा आदि न जलाकर उनको आहार दे दिया और उनके चले जाने पर फिर अपना बनाने लगे। चूल्हा बुझाकर देने में तो दोष है, और जैसी आग जल रही है जलने दो, उसे बढ़ावों जलावो फूको मत, उस पर आरम्भ मत करो, साधु को आहार उस क्रिया को बन्द करके दे दो, वह आहार लेकर चला जायगा। तो वे सब तो हुए श्रावक के द्वारा दोष।

आहार के उत्पादन दोष में धात्रीदोष—अब ऐसे दोषों को सुनिये कि जिनको साधुजन किया करते हैं। इन दोषों को करें तो वह साधु सदोष है। (1) घर गृहस्थी के बालकों के पालन पोषण की बात बतलाकर श्रावक को आकर्षित कराकर आहार लेना साधु के लिए दोष है। कदाचित् उपदेश में बात आ जाय गृहस्थ धर्म के प्रकरण में तो वह बात अलग है,

किन्तु यहाँ तो प्रयोजन यह है कि श्रावक के मन माफिक बात अच्छी बता दू तो वह हलुवा आदि कुछ बनवाकर खिला देगा। बालकों को यों खिलाना, यों सुलाना, यों रखना, इस प्रकार की बातें सुनाने पर रागमयी बातें हो जाती हैं। वाह हमारे साधु बड़े अच्छे हैं, हमारे बच्चों की बड़ी खबर रखते हैं और फिर खूब अच्छा-अच्छा बनाकर खिलायें वह साधु का दोष है।

दूतदोष व निमित्त दोष—(2) कोई साधु दूसरे गांव जा रहा है तो किसी से मिलकर जाय और वह संदेश दे कि महाराज फलाने हमारे सम्बन्धी हैं, फलाने हमारे साढू हैं, उनके राज़ी खुशी के सारे समाचार दे देना। वह साधु वहाँ पर जाकर संदेशा कहे और संदेशा कहकर आहार ले तो वह साधु के योग्य नहीं है। देखते जावो साधु कितना निरपेक्ष होता है। इसमें यह दोष भरा है कि मैं संदेशा सुनाऊगा तो वह जान जायेंगे कि महाराज जी हमारे समधी साहब से भी सम्बन्ध है, वह भी आपके भक्त हैं, ऐसी बातें सुनकर वह खुश हो जायेंगे और खूब अच्छा आहार बनाकर खिलायेंगे, ऐसे भी आहार को साधुजन नहीं लेते हैं। (3) कोई निमित्त ज्ञान की बात बताकर, हाथ दिखाकर, लक्षण बताकर जमीन में गड़ा धन है, कोई सगुन असगुन की बात बताकर उसके यहाँ आहार लेना यह भी साधु के दोष वाला आहार है।

अनीपक और आजीव दोष—(4) दाता जैसे वचन सुनकर खुश रहे और उसकी जो कुछ समस्या हो, कथन हो, वार्ता हो, आइटम हो, उनके ही अनुकूल बात बोलना, फिर आहार लेना यह तो साधु के लिए दोष की बात है। (5) अपनी जाति की श्रेष्ठता बताकर हम अमुक जाति के हैं, अमुक वंश के हैं, शुद्ध जाति के हैं, मैं ऐसे बड़े घर का हू, इतना छोड़ करके त्यागी हुआ हू, अथवा कोई जन्त्र मन्त्र की बात बताकर मैं इस बात में बड़ा चतुर हू, मैंने इतने काम किये, ऐसी कुछ वार्ता बोलकर आहार ग्रहण करे तो वह भी आहार सदोष आहार है। अरे पेट भरने भर के लिए इतनी बात सोचना, श्रम करना यह तो आसक्ति को सूचित करता है। साधुजन तो निरपेक्ष वृत्ति वाले होते हैं।

आहारोत्पादन में क्रोधदोष व मानदोष—(6) क्रोध करके भोजन करना अथवा डाट डपटकर क्रोध करके व्यवस्था बनाकर यहाँ आहार करना यह भी सदोष भोजन है। (7) बड़ी कला से बड़ा अभिमान बताकर आहार लेना यह भी साधु के लिए दोष की बात है। लोग कहा करते हैं कि साधु के सिंहवृत्ति होती है। तो सिंहवृत्ति का क्या यह अर्थ है कि अपना बड़ा तूफान मचाकर श्रावकों में खलबली मचा देवे यह सिंहवृत्ति है तो उस सिंहवृत्ति का यह अर्थ है कि अपने आपमें जो कोई कष्ट हो, विपदा हो, दु:ख हो, क्लेश हो उसका कारण दूसरे को न मानना किन्तु अपने भाव को ही अपने क्लेश का कारण समझना और अपने पूर्व उपार्जित कर्म के उदय को निमित्त समझना यह है सिंहवृत्ति। सिंह की तरह खूंखार होकर तूफान मचाकर, एक गड़बड़ी पैदा कर दे, लोगों को भयभीत कर दे इसका नाम सिंहवृत्ति नहीं है।

श्वानवृत्ति व सिंहवृत्ति में अन्तर—देखो एक जानवर होता है कुत्ता। वह बड़ा उपकारी है। रोटी के दो टुकड़े डाल दो, इतने में ही 24 घन्टे आपकी सेवा बजाता है, पहरा लगाता है और बड़ी विनय से पूछ हिलाकर आज्ञा मानकर कृतज्ञता प्रकट करता है, हर समय आपकी सेवा को तैयार रहता है। है नहीं ना, कुत्ता उपकारी जानवर और सिंह अनुपकारी है, दुष्ट है। कहीं सिंह दिख जा यतो कहो धोती ढीली हो जाय। सिंह घर के भी किसी काम नहीं आता है। तो इनमें से श्रेष्ठ कौन हुआ? कुत्ता हुआ ना? कुत्ता उपकारी है। किसी सभा में किसी उपकारी पुरुष के प्रति जरा यह तो कह दो कि अमुकचन्द, अमुकमल, अमुकप्रसाद का क्या कहना है। ये तो बड़े उपकारी जीव हैं, ये तो प्रजा का बड़ा ख्याल रखते है, ये तो कुत्ते के समान हैं (हसी)। इसमें हसने की क्या बात है। कुत्ता बड़ा उपकारी तो है। किसी उपकारी पुरुष को कुत्ते

की उपमा देना अच्छी बात है, लेकिन लोग सुनकर रुष्ट हो जायेंगे और, यदि यह कह दो कि अमुक नेता तो सिंह के समान है, कहा तो यह है कि खूंखार है, किसी के काम नहीं आने वाला है, दुष्ट है, अभ्र तो उसका यह है। अरे जैसा सिंह होता है वैसा ही बताया है, किन्तु सिंह की उपमा सुनकर खुश हो जाया करते हैं। यह किस बात का फर्क है? उतने गुण होकर भी कुत्ते की उपमा लोग नहीं सुनना चाहते और इतने अवगुण होकर भी सिंह की उपमा लोग सुनना चाहते हैं। कहां से यह अन्तर आ गया?

ज्ञानी और अज्ञानी में उपादानदृष्टि व निमित्तदृष्टि का अन्तर—सुनिये ! यह अन्तर आ गया एक सम्य दृष्टि की कला और मिथ्यादृष्टि की कला का, पद्धति का। कुत्ते को कोई लाठी मारे तो वह इतना अज्ञानी है कि वह लाठी तो चबायेगा पर मारने वाले पर हमला नहीं करता। जैसे कि मिथ्यादृष्टि जीव के कुछ पीर आ जाय, दु:ख आ जाय तो दूसरे पुरुषों पर क्रोध करता है, इसने मुझे यों किया, पर यह नहीं जानता कि इस पुरुष का क्या कसूर है, कसूर तो मेरे इस अज्ञानभाव का है, अपने ही कषाय मान से मैं दु:खी हो रहा हू, यह उसे पता नहीं है। सिंह को कोई तलवार मारे लाठी मारे तो वह तलवार या लाठी पर हमला नहीं करता है, वह तो सीधा मारने वाले पर ही प्रहार करता है। जैसे कि सम्यग्दृष्टि पुरुष किसी समय दु:खी हो जाय, पीड़ित हो जाय तो वह किसी मनुष्य पर क्रोध न करेगा, किसी दूसरे व्यक्ति को अपने दु:ख का कारण न मानेगा, किन्तु अपना ही अज्ञान परिणाम, अपना ही कषाय परिणाम जो साक्षात् इस मुझ पर आक्रमण कर रहा है ऐसे परिणाम को क्लेशकारी मानेगा यह अन्तर है और इसी भाव से सिंहवृत्ति नाम पड़ा है कि साधु के सिंह वृत्ति होती है। कहीं उसका अर्थ यह नहीं है कि साधुजन आहार को निकलें तो छाती फुलाकर पहलवानों की तरह हाथ पैर करके इधर-उधर देखते हुए जायें, इसे सिंहवृत्ति नहीं कहते हैं, ऐसे समस्त दोषों को टालकर साधुजन आकार करते हैं।

आहार में मायादोष व लोभदोष—(8) साधुजन मायाचार करते हुए भोजन ग्रहण नहीं करते। ऐसा मायाचार हुआ करता है भोजन ग्रहण करने में? एक तो आहार के समय चक्कर काटे साधु प्रभाव बढ़ाने के अर्थ तब जो भक्त पुरुष हैं वे क्या करते हैं कि देखा कि महाराज का कहीं आहार नहीं हो रहा है तो तीन कलश लेकर खड़े हो गए, स्त्री पुरुष खड़े हो गये, बाप बेटा खड़े हो गए, साधु के लग रहे है चक्कर। चाहे कुछ सोचा हो चाहे न सोचा हो, जिस किसी घर में जो अपने को इष्ट जंचा वहाँ चले गये लोगों के पूछने पर कुछ से कुछ कह दिया यह भी तो मायाचार है। भोजन करते हुए में भी अपनी मुद्रा कुछ कड़ी वीरता बताने वाली बना लेना, जिससे लोग प्रभावित हो जायें, ऐसे कितने ही मायाचार आहार में सम्भव हो सकते हैं। तो अनेक मायाचार होते हैं। कहां तक नाम लिया जाय? कितने ही मायाचार तो बताये जा सकते हैं और कितने ही मायाचार के भाव होते हैं और वे भी नहीं पकड़ पाते हैं। मायाचार सहित भोजन करना चाहे वह अत्यन्त विशुद्ध हो तो भी एक दोष है। (9) लोभ के परिणाम सहित आहारादि ग्रहण करना ऐसा यह भी सदोष आहार है। लोभपूर्वक, आसक्ति पूर्वक आहार लेने वाले के आत्मतत्त्व का ध्यान नहीं रह सकता है।

आहार में पूर्वस्तुति दोष व पश्चात्स्तुति दोष—(10) साधुजन आहार करने के पहिले दातार की स्तुति अथवा प्रशंसा नहीं करते हैं क्यों कि पहिले प्रशंसा करने का भाव यह है कि उनका मन खूब भर जाय और वे दो चार बढ़िया चीजें भी बनाकर खिलायें, यह भी आहार का दोष है कि भोजन से पहिले दाता की प्रशंसा करना। (11) इसी प्रकार भोजन के बाद भी दातार की प्रशंसा करना भी आहार का दोष है, उसमें क्या भाव भरा रह सकता है कि यहाँ ठहरना तो है ही। आगे भी भोजन यह बनाए और बढ़िया भोजन का प्रबंध करे और आहार करने के बाद दाता की प्रशंसा करे, वाह कितना सुन्दर

आहार बनाया है, यह चीज बड़ी मिष्ट है, क्या कहना है इनके भावों को, बड़ी उदारता है—ऐसा कहते हुए में एक तो आत्मगौरव नष्ट होता है, दूसरे कृपणता की व्यक्ति होती है।

आहार में चिकित्सा, विद्या व मन्त्र दोष—(12) साधुजन किसी भी प्रकार की चिकित्सा करके, उपकार करके या आयुर्वेद की औषधि सम्बन्धी उपदेश भी करके आहार नहीं लिया करते हैं क्योंकि चिकित्सा करके फिर उस आशय से आहार लेने में साधुजनों को दोष होता है। (13) साधुजन विद्या द्वारा आहार नहीं लिया करते हैं। साधुजन सधी हुई विद्या द्वारा दिया आहार ग्रहण नहीं करते हैं क्योंकि ऐसे परिणाम रखने में साधु ने अपना आत्मविश्वास खो दिया है और दीनता उसके अन्दर आ जाती है। (14) साधुजन मंत्र तंत्र सिखाकर मंत्रों की आशा देकर या मंत्र से देवता का आमंत्रण कर सम्पन्न हुआ आहार साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं। कहीं कथानक आया है। जब बड़ा अकाल पड़ा था, हजार वर्ष से भी पुरानी कथा है। कोई जंगल में साधु रहते थे। आहार की कोई विधि न जानते थे, विकट भयानक जंगल था। वहाँ पर देवतावों ने आकर भोजनसामग्री उपस्थित की, किन्तु पहिचान तो साधु को हो ही जाती है। वहाँ उस आहार को साधुवों ने नहीं ग्रहण किया।

आहार में चूर्ण व वेश दोष—(15) चूरन चटनी का नुक्सा बनाकर अथवा कोई वेशभूषा आदिक बनाने का चूर्ण सम्पादित कराके आहार तैयार करे तो ऐसा आहार साधुजन नहीं लेते हैं। वह तो आजीविका की तरह हो गया। (16) कितने ही पुरुष साधु के पास आते हैं और वशीकरण का मंत्र पूछते हैं। कोई कहता है कि हमारा पति हमारे वश नहीं है, कोई ऐसा मंत्र बता दो कि हमारे वश हो जाय। कोई कहता कि हमारी स्त्री वश में नहीं है, आज्ञा नहीं मानती है कोई ऐसी तरकीब बता दो कि हमारी स्त्री हमारे वश में हो जाय। अथवा जिसका जिससे अनुराग हो उसको वश में करने की युक्ति जानने के पीछे पड़े रहा करते हैं। साधुजन ऐसी कोई योजना नहीं बनाते हैं। ऐसा उपाय बताकर साधुजन आहार ग्रहण नहीं करते हैं। ये सब मार्ग विरुद्ध क्रियाए हैं।

मार्ग विरुद्ध सदोष आहार का निषेध—साधुजन इन मार्ग विरुद्ध क्रियावों को करके आहार नहीं लेते हैं। जैसे पहिले के उद्गम दोष श्रावक के द्वारा हुआ करते हैं ऐसा बताया गया था, लेकिन ये उत्पादन दोष पात्र के द्वारा हुआ करते हैं। साधुजन इन दोषों से सहित प्रवृत्ति से आहार को ग्रहण नहीं करते। कैसा अनासक्ति का भोजन है, जैसे हिरण थोड़ी भी आहट पाये तो झट खाती हुई घास को छोड़ देते हैं, यों ही ये साधुजन थोड़ा भी दोष देखते हैं तो आहार को तज देते हैं। ये तो विधिविधान भाव के दोष है किन्तु दोष ऐसा हो जो भोजनविषयक ही हो तो उस भोजन को भी साधु ग्रहण नहीं करते हैं। किसी आहार के सम्बन्ध में साधु को यह शंका हो जाय कि यह आहार ग्राह्य है अथवा नहीं है? भक्ष्य है अथवा नहीं है, , तो उस आहार को साधु ग्रहण नहीं करता। कोई भोजन किसी वजनदार ढक्कन से ढका हुआ है—जैसे डेगची पतेली तो है हल्का और उन पर सेर दो सेर ढक्कन हो तो ऐसे ढक्कन से ढकी हुई चीज को देने में साधु आहार नहीं लेता है। कारण यह है कि यदि वह ढक्कन गिर जाय तो किसी के भी चोट आ सकती है। प्रासुक भी पदार्थ है किन्तु वह किसी अप्रासुक पत्ते आदि से ढका हुआ हो तो ऐसा भोजन भी साधु ग्रहण नहीं करता है। ये आहारविषयक दोष कहे जा रहे हैं। दातार का हाथ घी तेल आदि से चिकना हो, ऐसे चिकने हाथ से दिये गए आहार को साधुजन ग्रहण नहीं करते हैं। जो भोजन किसी जीव जंतु के ऊपर रक्खा हुआ हो, पात्र रक्खा हो वह आहार भी साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं।

आहारसम्बन्धी अन्य दोष—कभी कोई इस तरह से आहार दे रहा हो कि कुछ चीज नीचे गिर जाय, कुछ बर्तन में आ जाये, जैसे चम्मच से कुछ तो नीचे गिरे और कुछ चम्मच में आ जाय तो ऐसे आहार को भी साधुजन नहीं लेते हैं। अथवा कोई अनिष्ट नीरस चीज है तो उसे कह दे, उ हू, अंजुली बंद कर ले और जब रसीली चीज दिखाये तो, हाँ, अंजुली खोल दे इस विधि से भी साधुजन आहार नहीं ग्रहण करते हैं। कोई पदार्थ जो प्रासुक न हाँ, रस, गंध, वर्ण बदल जाय ऐसे जल को साधुजन ग्रहण नहीं करते हैं। अर्थात् कुये से जैसा ही जल निकलता है ठीक उसही रूप में जल ग्रहण नहीं करते हैं, गरम हो या रंग बदले तो उसको ग्रहण करते हैं। कोई श्रावक अपने कपड़े लटक रहे हों घसीटकर यत्नाचार रहित खींचकर आहार दे तो साधु आहार ग्रहण नहीं करते हैं बर्तन चौके से घसीटकर विधिवत् आहार बनाए तो साधुजन उस आहार को नहीं ग्रहण करते हैं। यों भोजन सम्बन्धी कोई दोष हो तो वहाँ साधुजन आहार नहीं ग्रहण करते हैं। ठीक है ना।

दायकदोष—अब जरा देने वाले के दोष निरखिये—देने वाला यदि इस-इस प्रकार के दोष से सहित है तो दे नहीं सकता भोजन। आगम में उसको आज्ञा नहीं है। कैसे दोष वाला हो? जो मद्य पीता हो, शराब पीने वाला हो, रोग से ग्रस्त हो, बुखार आता हो, जुखाम भरा हुआ हो, ऐसे कोई कठिन रोग से पीड़ित हो, भूत प्रेत पिशाच का सताया हुआ हो अथवा जो स्त्री रजस्वला हो या बच्चे का प्रसव किया हो वह 40 दिन तक दोष सहित है, कोई गमन करके आया हो, कोई शरीर में तेल लगाये हुए हो, तेल लगाकर नहा धो लिया हो, पोंछ लिया हो वह बात अलग है, पर कोई तेल लगाकर भी आया हो, ऐसे दातार के हाथ का भी भोजन साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं। कोई पुरुष अथवा स्त्री भींत की आड़ में खड़ी होकर भोजन दे रही हो जैसे कोई बहू श्वसुर को खिलाये तो आड़ में छिपी हुई एक तरफ से डाल दे, इस तरह आड़ में छिपा हुआ कोई पुरुष या स्त्री साधु को आहार दे तो वह ग्रहण नहीं करता है अथवा रसोई घर के आगे एक आधी भींत बना देते हैं अथवा भींत में कोई बेथा भर का तक्का बना देते हैं, परोसने वाला उससे निकालकर आहार देता है, तो ऐसे आहार को साधुजन नहीं लेते हैं। उनको रसोई तो खुले दरबार की तरह दिखती हुई होनी चाहिए। एक-एक चीज स्पष्ट देखने में आये, कहां बनाया, कैसे बनाया, कौन कैसे खड़े हैं? सब दिख जाय। भींत की आड़ से खड़े होकर दातार आहार दे तो साधुजन आहार ग्रहण नहीं करते हैं। जहां आहार करने वाले साधुजन खड़े हों उससे बहुत ऊपर खड़े होकर कोई भोजन दे अथवा उससे नीचे खड़े होकर कोई आहार दे तो साधु उस आहार को नहीं ग्रहण करता है। समान भूमि प्रदेश में खड़ा होकर कोई आहार दे तो साधु आहार लेता है।

निषिद्ध दायक—कोई नपुंसक हो, जाति से च्युत किया गया हो, बहिष्कार किया हुआ हो, , किसी स्त्री को रख लिया हो अथवा रखी हुई स्त्री से उत्पन्न हुए आदिक दोष हों तो उसके हाथ का साधु आहार नहीं लेता हैं। कोई आचरण से भ्रष्ट हों, पतित हों, परस्त्रीगामी, वेश्यागामी हो, ऐसा दातार तो सदा अशुद्ध रहता है, साधुजन उसके हाथ का आहार नहीं लेते हैं। कोई लघुशंका करके आया हो अथवा और कुछ व्यग्रता करके आया हो तो साधुजन उसके हाथ का आहार नहीं लेते हैं। नग्न पुरुष के हाथ का आहार नहीं लेते हैं। वेश्या तो आहार देने के योग्य है ही नहीं। जो क्षुल्लिका हो, अर्जिका हो या संन्यासपने का भेष रखने वाली कोई महिला हो तो उसके हाथ का आहार साधुजन ग्रहण नहीं करते हैं। 5 माह से अधिक गर्भ वाली स्त्री भी आहार नहीं दे सकती है। जो 8 वर्ष तक की छोटी कन्या हो—कन्या इसलिए कहा है कि भोजन देने का काम प्राय: महिला का होता है, तो छोटी कन्या हो अथवा छोटा बालक हो तो उसके हाथ का आहार

साधुजन नहीं लेते हैं। कोई अत्यन्त वृद्धा हो, चलने में पैर कांपे, देने में हाथ कांपे, ऐसी वृद्धा के हाथ से भी साधुजन आहार नहीं लेते हैं।

आहार की अदुर्गमता—आप लोग सोचते होंगे कि तब तो बड़ा मुश्किल है। इतनी इसमें सीमाए लगा दी है। अरे मुश्किल क्या है? साधुजन तो आहार ग्रहण करने की अपेक्षा आहार न मिले, उसमें खुश रहा करते हैं। कोई खाता हुआ आहार देने लगे तो भी साधु आहार नहीं लेता है। आप सोचते होंगे कि ऐसा भी कहीं मौका आता है कि खाते हुए में आहार देने लगे। अरे होते हैं ऐसे मौके। लोगों ने साधुवों के आहार की विधि ही बहुत ऊची बढ़ाकर बना रक्खी है कि वह तो अपने बच्चों को भी न खिलाए, रोता है तो रोने दो जब महाराज को आहार करा देंगे तब इस बच्चे को खाने को देंगे। कितना कठोर बर्ताव का आहार लोगों ने बना लिया है? पहिले क्या होता था, रसोई बन रही है, लोग अपना काम किए जा रहे हैं उसके ही बीच में साधुजन आ खड़े हों और उसही समय उन्हें पड़गाहा या भोजन से पहिले दरवाजे से पड़गाहा, आहार करा दिया, ऐसी अचानक की स्थिति में कुछ भी हो रहा हो, घर में कोई खा रहा हो और खाते हुए में ही कोई साधु आ गया, झट थोड़ा मुह धोया पोंछा और झट पड़गाहा कर आहार देने लगे, ऐसी स्थितियां भी हो जाती थी। इससे आप अंदाज कर लो कि साधु का आहार कितना सुगम और सात्त्विक है? तो झटपट हाथ मुख पोंछकर दातार द्वारा दिए जाने वाले आहार को साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं। कोई अंधा हो उसके हाथ का भी आहार साधु नहीं लेता है। कोई स्त्री बैठे-बैठे आहार दे, लो महाराज तो ऐसा आहार भी साधुजन नहीं लेते हैं।

आहार के समय आरम्भ का निषेध—अग्नि जलाने वाला अथवा बुझाने वाला आहार दे रहा हो तो साधु आहार नहीं लेता है। अग्नि जलाने की अपेक्षा अग्नि बुझाकर आहार देने में अधिक दोष है। मगर अग्नि की तो कणिका भी साधु को न दिख जाय, इसलिए अग्नि में पानी डालकर बुझा देते हैं और चूल्हे को लीप पोतकर ऐसा साफ रखते हैं कि जरा भी नहीं मालूम हो पाता कि कैसे आहार बनाया गया है? जरा विवेक तो करो। प्राकृतिकता तो वहाँ है कि गृहस्थ का काम गृहस्थी जैसा हो रहा है, होने दो, वहाँ अचानक साधुजन आ गये तो अग्नि को यों ही जलने देना चाहिए। उसे खूते नहीं बढ़ायें नहीं, बुझाये नहीं और साधु को आहार दे देना चाहिए। यदि कोई अग्नि को बुझाये या ढाके तो साधु उसके हाथ का आहार नहीं लेता है। अग्नि को कोई फूक तो ऐसी स्थिति में भी साधु आहार नहीं लेता है। होता है ऐसा कि चूल्हे में लकड़ी जल रही है—थोड़ी मंदी पड़ गयी तो उसही लकड़ी को मुख से या किसी चीज से फूक दे तो ऐसी स्थिति में साधु आहार नहीं लेता है।

आहर के समय अन्य दोषों का बचाव—मकान कोई लीप रहा हो, उसके हाथ का भी आहार साधुजन नहीं लेते हैं। किसी मिट्टी से या गोबर से घर लीप रहा हो और उसी समय कोई मुनि महाराज आ गये तो झट हाथ पैर धोया, थोड़ा नहाया भी उस समय, तो भी ऐसा आहार साधुजन नहीं लेते हैं। आप जान जावो कि जितना साधुवों के आहार के समय आजकल बनावटी अटेन्सन होना पड़ता है उतना अटेन्सन पहिले नहीं होना पड़ता था। साधुवों के आहार के समय इना बनावटी अटेन्सन होने की जरूरत नहीं है। आपका गृहस्थी का काम चल रहा हो, साधु महाराज उसी बीच में आ जायें तो प्रेम से आहार दे दो, आहार लेकर चले जाते हैं। जो केवल एक ही वस्त्र पहिने हो, उसके हाथ का आहार भी साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं। दूध पीते बच्चे को छुड़ाकर आहार कोई दे तो उसके भी हाथ का आहार साधुजन नहीं लेते हैं। कोई बच्चे को नहलवा रहा हो ऐसी स्थिति में भी काम छोड़कर साधु को आहार देने आये तो साधु उस आहार को

नहीं ग्रहण करता है। स्त्री हो अथवा पुरुष हो ऐसी व्यग्रतावों में ऐसे स्थानों में रहने वाले दातार के हाथ का भी भोजन साधु नहीं ग्रहण करता हैं।

साधुजनों की आन्तरिक रुचि—भैया ! बहुत समय से आहार-आहार की चर्चा चल रही है और कितनी ही बातें ऐसी हैं कि संक्षेप में बताया जाय तो भी दो तीन दिन में बताया जा सकता है। संक्षेप में यों जानों कि साधुजन इतने निरपेक्ष होते हैं कि लाभ और अलाभ में समता परिणाम रखने वाले हैं, धुन है उनको इसकी। जैसे कंजूस गृहस्थ को धन कमाने की रुचि है उसे क्या कभी देखा है सुख से खाते हुए? खाने की ओर से वह निरपेक्ष रहता है। चाहे दो दिन भूखा रह जाय पर रहना चाहिए धन। यों ही जिसको आत्मीय ज्ञानानन्दघन के संचय करने की धुन लग गयी है ऐसे आत्महित का अर्थी साधु आहार में क्या अपेक्षा रक्खेगा? एक दो दिन न आहार मिले तो उसे कुछ परवाह नहीं है, उसे तो चाहिए ज्ञानानुभव और सहज आनन्द का परिणमन, वह उसी में ही मस्त है।

अपवित्र आहार—अब सुनिये, कोई आहार ही ऐसा विकट हो जाय, साक्षात् सदोष है, तो उस आहार को तो गृहस्थ भी नहीं लेता है, फिर साधुजन ऐसे क्या लेंगे? पीप, थूक, मांस, मज्जा, चमड़ा, दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव या उसमें पड़ा हुआ कंद या जो अंकुर होने वाला हो ऐसा बीज जैसे कि लोग चने या मूग को शाम को भिगो देते हैं और सुबह अंकुर हो जाते हैं, ऐसी कुछ चीजें मिली हुई हों, बेर आदिक तुच्छ फल पड़े हुए हों या चावल के अन्दर रह जाने वाला कच्चा कण है भीतर कच्चा, बाहर कच्चा, तो ऐसे आहार को साधुजन ग्रहण नहीं करते हैं।

साधु योग्य आहार की तीन विशेषतायें—साधुजन वही आहार लेते हैं जो आहार प्रासुक हो। इसी टीका में बताया है कि आहार मनोहर हो, मन को हरने वाला हो। प्रत्येक बात में कला का आदर रखिये। कला के मामले में कुछ त्यागी संतों को छूट दे देना। वे कपड़े भी ढंग से संभाल नहीं पाते। हम तो जानते है कि कोई ठीक-ठीक कपड़े न ओढ़े हो तो वह भी एक वैराग्य की कला हे। गांधी जी का एक बटन खुला ही रहता था। तो जो पुरुष कर्मठ है और किसी उपकार की धुन में लगा है ऐसा पुरुष दूसरी कला विलास तो प्राप्त हो रहा है। कलाहीन पुरुष की क्रिया यथालाभ नहीं पहुंचाती है। यह न सोचो कि भोजन करना है बना दिया किसी तरह। अरे कला सहित बना हुआ भोजन इस बात की सूचना देता है कि जिसमें ऐसी कला है भोजन बनाने की उसमें सावधानी भी बहुत अच्छी रही होगी। काला कलूटा किस ही रंग का भोजन हो तो उससे यह साबित होता है कि भोजन बनाने वाले ने असावधानी भी बहुत करी है। इसलिए आहार मनोहर हो, प्रासुक हो और नवकोटि से विशुद्ध हो, ऐसा शुद्ध आहार ही साधुजन ग्रहण करते हैं।

अन्तरायों का वर्णन—साधुजन 32 प्रकार के अंतरायों को टालकर आहार लिया करते हैं। अंतरायों के सम्बन्ध में भी सब लोगों को बहुत भ्रम है। जो अन्तराय की बात नहीं है उसे अन्तराय समझना, जो अन्तराय हैं उन पर दृष्टि न देना—ऐसी बहुत सी जानकारियां हैं, ऐसे 32 प्रकार के अन्तराय याने विघ्न हुआ करते हैं कि जिन विघ्नों के होने पर साधु आहार ग्रहण नहीं करते हैं।

काक, अमेध्य व वमन अन्तराय—साधु पुरुष अपने निवासस्थान से अथवा मंदिर से शुद्ध भक्ति करके संकल्प करके जब चर्या के लिए चलते हैं—रास्ते में कोई पक्षी बीट कर जाय और साधु शरीर पर पड़ जाय तो उस समय वह साधु अंतराय मानता है और यह अंतराय सबकी समझ में ही आ जायेगा। वह अपवित्र हो गया, चौके में जाने लायक नहीं रहा ऐसा अंतरंग में प्रकट ही है, इसी प्रकार साधु का पैर बीट में या अपवित्र पदार्थ में पड़ जाय तो भी अपवित्र मानते हैं। यह भी

सबको स्पष्ट ज्ञात होगा कि शरीर की अपवित्रता में आहारचर्या का साधक नहीं कहा जा सकता। किसी कारण भोजन करते समय अथवा चर्या को जाते समय वमन हो जाय तो भी साधुजन आहार ग्रहण नहीं कर सकते।

रोधन, अश्रु, आक्रंदन अन्तराय—जब साधु जनों को चर्या करते हुए में कोई विघ्न आ जाता है तो भी साधु को अन्तराय है। कोई पुरुष साधु को रोक दे कि तुम आहार करने मत जावो तो रोकने पर भी साधु को अंतराय हैं। साधुजन निरपेक्ष भाव से सहजरूप में आहार ग्रहण करते हैं। यह भी स्पष्टसा है कि जिसका शरीर अशुद्ध हुआ, परिणामों में अशुद्ध हुआ, परिणामों में अशुद्धता दिखी, वहाँ भी साधु अंतराय मान लेता है। इतनी निरपेक्षता है साधु पुरुषों को। कदाचित् आहार करते हुए मुनिराज के किसी कारण आंसू आ जायें तो भी साधु उसमें अंतराय मान लेते हैं। आहार को जाते समय किसी पुरुष के शोक भरे आंसू दिख जायें या किसी वेदना के कारण चिल्ला रहा हो कोई तो साधुजन अंतराय मान लेते हैं। कदाचित् कोई बच्चा शोकभरा आक्रन्दन मचा दे तो उस आक्रन्दन को देखकर साधुजन आहार नहीं लेते हैं। किसी जगह ऐसा होता है कि खूब घंटा बजावो ताकि साधु किसी का रोना न सुने, ऐसी बनावट योग्य नहीं है। ऐसी हालत में भी साधु आहार नहीं ग्रहण करता है। साधुजन किसी को रोता बिलखता हुआ सुनें तो ऐसी स्थिति में आहार करने में वे असमर्थ हैं। उनका दिल आहार में मदद नहीं दे सकता है, वे करुणा करि के भरे हुए हैं, इसलिए शोकभरी मुद्रा युक्त किसी के आगे, दुःख अथवा शोकभरी आवाज में ऐसे आक्रन्दन सुनें जिससे यह विदित हो कि इसे ऐसी पीड़ा है, किसी ने सताया है, तो ऐसी स्थिति में साधुजन आहार करने में असमर्थ होते हैं। साधुजनों की आहार के समय ही क्या, प्रत्येक समय बड़ी निरपेक्ष वृत्ति होती है।

असाधु पुरुषों की वृत्तियां—कितने ही पुरुष तो ऐसे होते हैं कि डंडों से मारते जावो फिर भी खाना मांगते जाते हैं। जैसे कोई भिखारियों को भोजन कराये, सबको खबर दे दी जाय तो वे कैसे टूटते हैं? व्यवस्था करने वाले लोग उन्हें पटरी बेंत से मार भी देते हैं, धक्का दे देते हैं, क्यों यहाँ आए, लाइन से खड़े हो, अंत में खड़े हो, दरवाजे से बाहर खड़े हो, कितनी ही बातें की जाती हैं फिर भी वे भोजन मांगते हैं। कुछ लोगों की तो ऐसी वृत्तियां होती हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जहां मारपीट या ऐसी व्यवस्था देखी तो कहते हैं कि भोजन लेने की क्या जरूरत, क्या भोजन लेना। कोई आगे अच्छी तरह बुलाने पर आते हैं और आहार लेकर चले जाते हैं। कोई लोग आमंत्रण और निमंत्रण करने पर आते हैं, कोई आमंत्रण करने पर भी बड़ा प्रेम दिखायें तो भोजन करते हैं अन्यथा नहीं करते हैं।

साधुवों की निरपेक्ष वृत्ति—साधुजनों की सर्वोत्कृष्ट निरपेक्ष वृत्ति है। वे आमंत्रण से भी नहीं पहुंचते हैं और किसी प्रकार की अन्य व्यवस्थावों से भी नहीं पहुंचते हैं। उन्हें आहार करना आवश्यक ही नहीं मालूम होता है। जब तीव्र क्षुधा वेदना होती है और जानते हैं कि रस्सी तन चुकी है अब अधिक तानना अच्छा नहीं है। सो उस समय वे क्षुधा शांत करने के लिए निकल जाते हैं। कोई नवधा भक्ति सहित, बड़े उच्च सम्मान सहित पड़गाहे तो खड़े हो जाते हैं और शुद्धभाव दातार के देखे जिसका वर्णन आगे आयेगा तो वे आहार ले लेते हैं। साधुसंत अपनी मुद्रा में भी ऐसी वृत्ति नहीं करते हैं जिसमें कायरता जाहिर हो।

चर्या के प्रारम्भ से ही साधुवों की आत्मसावधानी—साधु पुरुष चर्या के लिए जब उठते हैं तो सिद्ध प्रभु का स्मरण करके उनकी भक्ति करके और प्रतिज्ञा करके उठते हैं। मैं अब आहार की चर्या के लिए जा रहा हू। हे प्रभु ! यह मैं एक आफत में जा रहा हू क्योंकि आहार लेना भी एक बड़ी आंतरिक विपत्ति है। भोजन की ओर दृष्टि हो जाती है और उन

परिस्थितियों में यह आत्मा प्रभु को भी भूल जाता है, अपने स्वरूप को भी भूल जाता है, यों समझो कि साधुजन आहार करने के प्रसंग में एक आग में कूदकर निकल जाने की तरह समझते हैं। अब आहार करने के लिए जा रहे हैं तो कितनी ही परदृष्टियां करनी होगी। हे प्रभु ! जाना पड़ रहा है। आहार से आत्मा का कुछ हित नहीं है। मैं जानता हू, किन्तु वर्तमान भव की परिस्थिति ही ऐसी है कि जाना पड़ेगा।

जान्वधः परामर्श अन्तराय—आहार की चर्या के लिए जब साधु भक्ति करके जाता है तो घुटना के नीचे कोई खाज हो जाय अथवा कोई जीव जंतु थोड़ा काट ले तो भी वहाँ वे हाथ नहीं लगाते। घुटने के नीचे खाज की वजह से किसी कारण से साधु हाथ लगा दे तो अंतराय हो जाता है। क्या बात हुई, वहाँ कायरता जाहिर हुई? शरीर में इतनी आसक्ति की कमर के नीचे घुटने के नीचे हाथ लगाना पड़ा—ऐसा प्रसंग आ जाय तो साधु वहाँ आहार नहीं लेता है, अंतराय हो जाता है। बतलावो जहां अपनी ही बात है वह भी अंतराय में शामिल है तो जोर देकर गुस्सा होकर दंदफंद करके व्यवस्था कराये, ये सब तो महा कायरता की ही बातें हैं।

जानूपरिव्यतिक्रम अन्तराय—साधु चर्या को जा रहा हो। रास्ते में जंगल में कहीं आड़ा बांस लगा हो, अर्गला लगा हो जो जमीन से दो तीन हाथ ऊचा हो, जिसको लांघकर जाने में कुछ अलग से चेष्टा करनी पड़ती हो, ऐसी स्थिति में साधु पुरुष अर्गला को लांघने का अंतराय मानते है। सुनने में ऐसा लगता होगा कि हो क्या गया, किसी जंतु का घात नहीं हुआ कोई और भी गड़बड़ी नहीं हुई, अंतराय क्यों हुआ? अरे अंतराय क्यों हो गया? यों हो गया कि उनके आत्मप्रभु के आदर समानता के विरुद्ध यह चेष्टा है। यों तो भिखारी लोग भोजन करने कूद-कूद कर आया करते हैं, पर साधुपुरुष कूदकर अर्गला को लांघकर चर्या नहीं किया करते हैं। यदि ऐसा करें तो कायरता की बात आती है।

नाभ्यधोनिर्गम अन्तराय—कभी चर्या करते हुए में कोई स्थान ऐसा हो कि दरवाजा अत्यन्त छोटा हो या कहीं तीन साढ़े तीन फीट ऊचे कोई बांस लगे हों और वहाँ से कमर झुकाकर निकले तो वह भी अंतराय हो जाता है। साधुवों की चर्या निरपेक्षता और शांति से होती हैं। जो आहार करते हुए भी छठे गुणस्थान में रह सके ऐसा परिणाम जिसका हो अंदाज करो कितना निरपेक्ष परिणाम साधु का होना चाहिए। वह यदि नाभि से नीचे अपने शरीर को करके निकले, घुटना टेक करके निकले तो वह भी उनका अन्तराय है। फिर साधु आहार नहीं लेते हैं।

प्रत्याख्यातसेवन व जन्तुबध अन्तराय—साधुजनों ने जिस वस्तु का त्याग कर रक्खा हो वह वस्तु खाने में आ जाय तो वह भी अन्तराय है, इसके बाद वह आहार नहीं लेते है। यद्यपि वह भी वस्तु प्रासुक है, कोई दोष वाली चीज नहीं है लेकिन निर्दोष चीज में भी और अधिक त्याग का करना विधि में है। त्यागी हुई चीज खाने में आ जाय और फिर भी खाता रहे तो यह उसके भीतर कायरता की बात है। यदि कोई चूहा, बिल्ली, कुत्ता आदि जानवर कोई जीव का घात करे और साधु देख ले तो ऐसी स्थिति में साधु आहार नहीं लेता है। थोड़ा-थोड़ा तो आप भी आहार न लेते होंगे जब आपके सामने कोई बिल्ली चूहे को पकड़ ले और आप आहार ले रहे हों तो अंदाज कर लो कि क्या आहार करने को दिल उस समय करता है? फिर वे साधु तो उत्कृष्ट पुरुष हैं, उन्हें आहार करते में यदि ऐसी बात दिख जाय तो साधुजन आहार कैसे ले सकते हैं?

काकादिपिण्डहरण अन्तराय—साधुजन आहार हाथ में लेते हैं बर्तन में नहीं। हाथ में आहार लेने में कई गुण हैं। पहिले तो एक आयुर्वेद का ही गुण देख लो—हाथ की हथेलियों पर रक्खे हुए भोजन के खाने में कई विशेष गुण होते हैं। बहुत

देर तक रक्खे रहने में तो गुणों के बजाय अवगुण हो जाते हैं। जैसे हथेली पर कुछ चाट वगैरह लोग खाते है और फिर जो बच जाती है उसे भी जीभ से चाटकर खाते हैं तो चाटने वालों को शायद भारी स्वाद आता होगा। हाथ में भोजन करने से बीच में अंतराय आ जाय तो श्रावक का एक दो ग्रास ही खराब होगा। थाली में भोजन करेंगे तो बीच में अन्तराय आ जाने पर सारा खाना खराब हो जायेगा। साधु पुरुष तो साधु हैं, वे भोजन भी बरबाद नहीं करना चाहते हैं। साधुजन अपने हाथ पर ही आहार लिया करते हैं। किसी के घर बरतन हो अथवा न हो अथवा बरतन में भोजन करने के बाद श्रावक उसे मांजने दे अथवा न मांजने दे, पता नहीं कब तक थाली मांजने के लिए रक्खी रहे और फिर हाथ में खाने से स्वतंत्रता है। हाथ में ले लिया खाकर चल दिये। साधुजनों के पास समय कम होता है, खाने पीने में समय काफी लगता है, इससे भी वे हाथ में ही भोजन करके चले जाते हैं। हाथ में भोजन करते हुए में या मार्ग में ऐषणा चर्या में चिड़िया बीट कर दे तो साधु को अंतराय हो जाता है। वह लोकव्यवहार में अशुद्ध हो गया। ऐसी स्थिति में यदि साधु आहार ग्रहण करे तो आसक्ति जाहिर होती है।

पाणिपिण्डपतन अन्तराय—साधु पुरुष हाथ पर भोजन कर रहे हों, वहाँ किसी समय अपने हाथ से कोई ग्रास नीचे गिर जाय तो साधु अंतराय मान लेता है। जिसकी छितरी अंगुलियां होती हैं उसे साधु होना नहीं बताया है। टेढ़ीटाढ़ी बीच में कहीं मोटी, कहीं पतली ऐसी अंगुली हों तो उसे साधु होना नहीं बताया है, क्योंकि ऐसी छितरी अंगुलियां हों तो वह सिद्धान्त के अनुसार चर्या करके आहार ले ही कहां सकेगा? आहार नीचे गिरेगा, दूध गिरेगा, पानी भी गिरेगा, जंतुवों को बाधा होगी, श्रावकों को बाधा होगी। लो कोई साधु ऐसा जो आहार के लिए न उठ सके, जिस किसी में ऐसा दम बने, वह भले ही बने ऐसा साधु और अपना कल्याण करे, परन्तु व्यवहार की बात तो व्यवहार की तरह होगी। कल्याण की बात कोई साधु ही होकर करे, ऐसी तो बात नहीं है। कोई क्षुल्लक वगैरह बन कर करे या नीचे कोई ब्रह्मचारी वगैरह बनकर करे, पर व्यवहार में जो विधि बतायी गयी है, चर्या उस विधि से ही होगी।

तीर्थविरुद्ध प्रवृत्ति के निषेध का समर्थन—जिसका लिङ्ग या अंडकोश बड़ा हो वह साधु नहीं बन सकता। कोई कहे कि आत्मकल्याण से और इससे क्या मतलब है, अरे मतलब व्यवहार में प्रजा से भी है और परमार्थ में आत्मा से भी है। वृद्ध अंडकोशादि होने से लोक वातावरण में धर्म की कितनी अप्रभावना है। उसे साधु होना नहीं बताया है। हाँ, अगर हो भी जाय साधु तो वह जंगल में एकांत में रहे, पर वह चर्या नहीं कर सकता है। जैसा आगम में कहा है उस विधि से चले। आत्मकल्याण तो आत्मस्वरूप के श्रद्धान् में, ज्ञान में और आचरण में है। मनाही नहीं है, कैसा ही पुरुष हो तो भी धर्म और तीर्थ प्रवृत्ति के अनुकूल ही व्यवहार हुआ करेगा। साधुजनों के भोजन करते हुए में आहार यदि हाथ से गिर जाय नीचे तो वे अंतराय मानते हैं, उसमें जंतुवों को पीड़ा हुई, श्रावक का अन्न खराब गया। आहार का चौका भी अशुद्ध हो गया। सब जगह भोजन के कण बिखर जायें, ऐसी वृत्ति सहित साधुजन आहार नहीं करते हैं।

पाणिजन्तुबध अन्तराय—किसी भी प्रकार से श्रावक को बाधा न हो—ऐसी वृत्ति वाला साधु भोजन कर रहा है। कोई मच्छर उसके हाथ पर आ गया और मर गया तो ऐसी स्थिति में साधु आहार नहीं करते हैं। यहाँ क्या हो गया, क्यों किया ऐसा? मच्छर मर गया, अरे क्या हुआ खावो हर एक के यहाँ ऐसा चलता है। भैया !क्यों सब जगह अधिक नहीं चलता है? क्यों थोड़ा चला करता है?

सीमातीत तर्क की अनुपयोगिता—एक पुरुष था वह हर बात में "क्यों" के बिना कोई काम ही न चले और "क्यों" से सब जगह आपदा मिले तो भी हर जगह वह क्यों ही कहे? तो उसने सोचा कि यह अपना "क्यों" किसी को दे देवें। सो वह अस्पताल में पहुंचा। वहाँ एक रोगी से कहा कि भाई तुम्हारे रोग है, हमसे 100 रु0 ले लो और हमारा क्यों का रोग ले लो। अच्छा भाई। अब जब उस रोगी को डाक्टर देखने आया तो पूछा कि तुम्हारी तबीयत कैसी है? तो मरीज बोला—क्यों? डाक्टर ने उसे निकाल दिया। अब वह रोगी उसके पास पहुंचा जिससे 100 रु0 लेकर क्यों का रोग लिया था। बोला लीजिए अपने रुपये और क्यों का रोग हमें न चाहिए कुछ। अब क्यों वाला वह एक वकील के पास पहुंचा, बोला 100 रु0 ले लो और हमसे हमारा क्यों का रोग ले लो। वकील ने कहा अच्छा भाई। अब कोई केस आया—जज ने वकील से पूछा कि इस मामले में तुम कुछ सबूत भी रखते हो? वकील बोला—क्यों? क्यों तो क्यों सही। मामला खारिज हो गया। वकील ने फिर उसे उसके रुपये और क्यों का रोग वापिस कर दिया। अब उसने सोचा कि अपना क्यों का रोग किसे दें? ध्यान आया कि किसी स्कूल जायें, स्कूल के बच्चे नटखट होते हैं उन्हें 105 रुपये देकर अपना क्यों का रोग दे देंगे। सो स्कूल में जाकर किसी बच्चे से कहा कि हमसे 10 रुपये ले लो और हमारा क्यों का रोग ले लो।...अच्छा भाई। अब मास्टर ने उस बच्चे से पूछा कि तुमने अपना पाठ याद कर लिया? तो वह बोला—क्यों? मास्टर ने उसे पीटा, परेशान किया। उसने फिर उसके 10 रु0 और क्यों का रोग उसी को वापिस कर दिया। तो यह क्यों का रोग बड़ा विकट होता है। सो क्यों थोड़ी ही चलाना अच्छा है, कुछ अनुभव व श्रद्धा से भी काम लो। इन सबमें कुछ कारण तो विदित हो जाता है। यहाँ हिंसा का दोष लगा। यहाँ कायरता की बात आयी। जहां कोई भी अपेक्षा विदित हो वहाँ साधुजनों को अंतराय हो जाता है।

मांसादिदर्शन, उपसर्ग, पादान्तरपञ्चेन्द्रियगमन व भाजनसंपात अन्तराय—भोजन करते हुए में साधु को कोई मांसादिक अशुचि चीज दिख जाय तो वे अंतराय मानते हैं। भोजन करते समय कोई उपसर्ग करे किसी प्रकार की पीड़ा दे तो वह भी अन्तराय हो जाता है। वे नहीं सोचते कि अभी तो भोजन कर लें फिर देखा जायेगा। जरा भी कोई उपसर्ग करे तो वहाँ अन्तराय हो जाता है, फिर वे आहार नहीं लेते हैं। भोजन के लिए वे चल रहे हैं, चलते हुए में उनके दोनों पैरों के बीच में से कोई पंचेन्द्रिय जीव निकल जाय तो वे आहार नहीं लेते। दाता आहार दे रहा है, आहार करते हुए में दाता के हाथ से कोई कटोरा आदि बरतन नीचे गिर जाय तो साधु आहार नहीं लेता है। वहाँ फिर यह भिक्षा नहीं चलती है कि आइये महाराज कोई जीव नहीं मरा, कोई दोष नहीं हुआ, खाली कटोरी थी, आप अभी न जावो, आहार करते रहो। वे आहार नहीं करते है। तीर्थप्रवृत्ति को बिगाड़ने में बड़ा दोष है। जो दोष खुद से सम्बन्ध रखता है वह इतना भयानक नहीं है और जो दोष आम व्यवहार से सम्बन्ध रखता है उसमें अधिक दोष है। वे साधुजन अन्तराय के समय आहार ग्रहण नहीं करते हैं।

उच्चार, प्रस्रवण व अभोज्यगृहप्रवेश अन्तराय—साधु भोजन के लिए जा रहे हैं या आहार कर रहे हैं और कदाचित् पेट की खराबी से या किसी कारण अशुचि हो जाय तो भी वे आहार नहीं करते हैं। इसी तरह कुछ थोड़ासा मूत्र निकल आये तो आहार छोड़ देते हैं। साधुजन भोजन के लिए चलते हैं वहाँ यह नहीं देखते हैं कि यह धनी का मकान है या गरीब का मकान है। वे चौके में जाकर थालियों की निगरानी नहीं करते कि हमें आहार दिखावो। उन्हें सरस नीरस की अपेक्षा नहीं

रहती हैं। कोई धनी हो चाहे गरीब हो, प्रत्येक के यहाँ साधुजन आहार लेते है। तब किस अभोज्य के घर कभी प्रवेश हो जायें तो फिर आहार को न जावेंगे अंतराय हो जायेगा। यों साधुपुरुष निरपेक्ष वृत्ति से अपने आहार की ऐषणा करते हैं।

पतन व उपवेशन अन्तराय—साधुजनों के आगे कोई मूर्छित हो जाय, गिर जाय अथवा किसी कारण भूमि पर कोई गिर जाय तो साधु अंतराय मानते हैं, शरीर की अति दयनीय स्थिति में भी आहार करे कोई तो उसमें आसक्ति कारण होती है। साधुजन आहार में अनासक्त है, इस कारण सीधी सुविधापूर्वक सद्वातावरण में आहार प्राप्त होता है तो आहार ग्रहण करते हैं। कदाचित् आहार लेते हुए में थके होने के कारण साधु भूमि पर बैठ जायें तो यह भी उनका अन्तराय है। जैसे मंदिर में या निवासस्थान में सिद्धभक्ति करके आहार की चर्या को चले और रास्ते में कहीं किसी चबूतरे पर या अन्य किसी जगह बैठ जाय तो फिर वहाँ साधु को अन्तराय हो जायेगा, वह फिर आहार को न जायेगा। शीघ्र सोचने में ऐसा लगता है कि इसमें हो क्या गया अंतराय? बैठ गया तो अच्छी बात है। लेकिन बैठकर आराम करके, भोजन के लिए जाय, ऐसी वृत्ति निरपेक्ष साधु संत जनों की नहीं होती है।

संदेश व भूमिस्पर्श अन्तराय—साधु की चर्या हो रही हो, उस समय या आहार के समय कोई कुत्ता, बिल्ली आदि जानवर काट जाय तो वहाँ साधुजन अंतराय मानते हैं। कोई कीड़ा काटता भी रहे और खाता भी रहे—यह बात आसक्ति बिना नहीं होती साधारणजनों को भी, बालक जनों को भी यदि कोई मार पीटकर खिलाना चाहे तो वे ऐसा खाना भी पसंद नहीं करते। यदि ऐसा करते हैं तो समझो कि उन्हें भोजन की अधिक आसक्ति है। सिद्धभक्ति करने के बाद साधु का हाथ भूमि को स्पर्श कर ले तो भी उनके अंतराय हो जाता है। इन सब बातों का आसक्ति से अधिक सम्बन्ध है।

निष्ठीवन अन्तराय—आहार करते हुए में साधु के कफ निकल आए, थूक निकल आए जो वहाँ भी साधु को अंतराय होती है। उसकी मुद्रा इतनी शांत निरपेक्ष दर्शनीय होनी चाहिए कि किसी भी समय साधु के दर्शन करे कोई, आहार के समय अथवा बैठे, उठे, लेटे के समय किसी भी समय साधु का दर्शन करे कोई तो उसको उनमें आकुलता न विदित हो। जैसे अन्य लोग मोही जन अपने मोह और नाम को पुष्ट करने वाली वृत्तियां करते हैं ऐसी प्रवृत्ति करते हुए साधु दिख जाय तो दर्शक के चित्त में वहाँ उपासनीयता की उन्मुखता नहीं रहती हैं। मान लो आहार करने जा रहे हैं और नाक पोंछते जा रहे हैं, उसमें कुछ पूज्यता वाली बात नहीं रह पाती चित्त में और वह पोंछे काहे से, वस्त्र भी नहीं है, हाथ ग्रास में फंसा हुआ हैं, ऐसी स्थिति में कफ, थूक, नाक निकल आये तो साधुजन अंतराय मानते हैं।

उदरकृमिनिर्गम व अदत्तग्रहण अन्तराय—कोई ऐसा रोग हो जिससे पेट में कीड़े पड़ जायें, वे कीड़े किसी द्वार से निकलें तो ऐसी स्थिति में भी साधु के भोजन में अन्तराय है। साधुजन बिना दिए हुए भोजन नहीं लेते। जैसे कि गृहस्थजन पास में वस्तु रखे हैं तो जो हाथ उठा नहीं है उस हाथ से परस लेते, उठा लेते, खाते हैं, ऐसी बात साधुसंतों के नहीं होती। यह बात तो दूर ही रहे संकेत करके भी साधुजन आहार नहीं लेते हैं, अपनी मुट्ठी से किसी वस्तु को संकेत करे 'हूं हूं अमुक चीज' ऐसा संकेत करके भी साधुजन आहार ग्रहण नहीं करते। न बिना दिया हुआ लेते, न संकेत किया हुआ लेते। यदि बिना दिया हुआ आहार ग्रहण में आ जाय या किसी वस्तु का संकेत कर दिया जाय तो साधु के अंतराय होती है।

प्रहार व ग्रामदाह अन्तराय—कोई पुरुष साधु पर प्रहार करे, ढेला मारे तो भी साधु अंतराय मान लेते हैं, आगे नहीं जाते हैं। जिस ग्राम में चर्या हो रही है, जिस स्थान पर चर्या चल रही है उसके निकट किसी ग्राम में आग लग जाय, अग्निदाह

हो जाय ऐसी स्थिति में भी साधुजन आहार ग्रहण नहीं करते हैं। अन्य जगह तो लग रही आग और साधु महाराज अपने पेट की ही फिकर रक्खें, ऐसी निर्दयता का परिणाम संत पुरुषों के नहीं होता है।

पादग्रहण व हस्तग्रहण अन्तराय—साधुजन किसी वस्तु को पैर से उठाकर ग्रहण करे, ऐसी कोई बात बन जाय तो भी अन्तराय है। हो जाता होगा कुछ ऐसा, किसी वस्तु को भूमि पर से हाथ से उठा लिया तो यह भी अंतराय है। सुनने में ऐसा लगेगा कि कोई चीज हाथ से उठा लिया भूमि पर से तो क्या हर्ज है? अरे अन्य समय उठा ले तो हर्ज नहीं है। समिति पूर्वक पिछी कमण्डल आदि उठाते ही हैं किन्तु आहार चर्या के लिए गमन होने के बीच में किसी वस्तु को भूमि पर से उठाये तो यह राग प्रसिद्ध करता है और भोजन में भी इतनी आसक्ति है कि भोजनविषयक चर्या और मुद्रा से वह हट गया।

आहार में साधुवों की निर्दोष प्रवृत्ति—यों साधुजनों के 32 प्रकार के अन्तराय होते हैं। उन अंतरायों को टालकर साधुजन आहार लेते हैं। 46 दोषों को टालकर 32 अंतरायों को टालकर साधुवों का आहार होता है। उसके अतिरिक्त साधुजन वहाँ ही आहार लिया करते हैं जहां दातार में ये 7 प्रकार के गुण हों।

दातार के सप्तगुणों में श्रद्धा गुण—दातार श्रद्धावान हो। यदि दातार में श्रद्धा नहीं है, आ गये हैं सिर पर खिलाना ही पड़ेगा, ऐसी स्थिति में वे आहार बनाए तो साधुजन आहार नहीं लेते हैं। यदि दातार श्रद्धालु हो तो साधुजन आहार लेते हैं। साधुजनों की उपासना से ही हम आपका हित होगा और हम लोगों का यह कर्तव्य है और सौभाग्य है कि ऐसे पात्रों का समागम मिल रहा है। बड़ी श्रद्धा सहित दातार होना चाहिए।

शक्ति गुण—दूसरा गुण है दातार में शक्ति का होना। श्रद्धा तो है सब कुछ, किन्तु व्यय करने की शक्ति नहीं है अथवा श्रम करने की शक्ति नहीं है। यहाँ वहाँ से उधार लेकर या अपने आपके घर वालों को भूखा रखकर अधपेट रखकर, चलो आज हम सब थोड़ा ही थोड़ा खायेंगे साधु को आहार दें—श्रद्धा तो है, परिणाम भी निर्मल है किन्तु साधु ऐसा जान जाय तो वहाँ आहार नहीं लेता है। उसमें शक्ति भी होनी चाहिए।

अलुब्धता—तीसरा गुण है दातार में अलुब्धता का होना, लोभ का न होना। श्रद्धा भी है कि दान देने से सुख मिलता है, पुण्य होता है, अगला भव भी सुधरता है, देना चाहिए। कदाचित् इस ही बात का लोभ हो जाय कि मुझे भोगभूमि मिलेगी तो यह भी एक आंतरिक लोभ है, पर ऐसा लोभ भी हो जो वर्तमान में समर्थ होते हुए भी व्यय करने का भाव न हो तो वहाँ साधुजन आहार नहीं लेते हैं। और किसी-किसी श्रावक के तो लोभ का परिणाम इतना अधिक हो जाता है कि अतिचार में लिखा है कि साधु के खाने योग्य पदार्थ को संचित वस्तु से ढाक देना, यह है अतिथि संविभाग व्रत, किन्तु उसमें दोष लग गया। जैसे 10 चीजें रक्खी हैं, एक चीज पर हरा पत्ता ढाक दे तो अतिथि संविभाग में क्यों दोष है? यों दोष है कि दातार ने यदि इस भाव से ढाका है कि यह चीज कीमती बनी है, सचित से ढाक दें तो साधु में खर्च न होगा। घर में बाल बच्चे बहुत हैं तो उनके काम आयेगा। यह परिणाम है इसलिए अतिथि संविभाग व्रत में यह दोष है। इतना तक लोभ हो जाता है कि अगर घी पास में रक्खा है और उसे कोई दूसरा परोसे तो उसे कह दिया जाता है तुम यह परोसो, यह काम करो और खुद घी परोसते हैं, ऐसा परिणाम भी एक लोभ का परिणाम है। ऐसे कितने ही कार्य लोभ में शामिल हो जाते हैं ऐसा परिणाम रखने वाले दातार के हाथ का भोजन साधुजन नहीं लेते हैं। साधु को तो ना ना चाहिए और

श्रावक को हाँ हाँ चाहिए। वह आहार दान प्रशंसा के योग्य है। अगर साधु संकेत करे, हाँ हाँ करे तो वह आहारदान योग्य नहीं है। तो दातार में अलोभ का भी गुण होना चाहिए।

भक्ति—चौथा गुण है भक्ति। दातार में भक्ति हो। भक्ति कहते हैं गुण के अनुराग को। साधु के गुणों में अनुराग रखते हुए जो दान किया जाता है वह हे भक्तिसहित दान। साधु को दानदाता की सब परख हो जाती है जैसे कि व्यापारी को अपने सभी काम धंधों की बड़ी परख रहती है और कहते भी हैं कि हम उड़ती हुई चिड़िया भी परख लेते हैं। यों ही साधुसंतजनों का इस प्रसंग का रोज-रोज काम रहता है इसलिए दातारों को वे शीघ्र परख लेते हैं और अपने इस अनुभव के बल से वे अपनी प्रवृत्ति निर्दोष रखते हैं। दातार में अटूट भक्ति रहनी चाहिए, उस साधु के प्रति जिसे आहार दान किया जा रहा है।

दातार का ज्ञानगुण—5 वां गुण है ज्ञान। दातार में सर्व प्रकार का ज्ञान होना चाहिए। जिसने कभी आहार न दिया हो, पहिले ही आहार देवे तो कुछ देने का ही नाम तो दान नहीं है। विधि हो, पद्धति हो, ढंग हो, सर्व प्रकार का ज्ञान हो, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का ज्ञान हो। पुरुष तो पड़गाह कर भक्तिपूर्वक ले गया और कहा अन्न जल शुद्ध है आइये। और चौके में पूछते हैं कि यह क्या चीज है, अरे उसे जब यह नहीं मालूम है कि यह काहे का साग है तो उसने क्यों बोल दिया कि अन्न जल शुद्ध है। प्राय: ऐसा लोग बहुत जगह करते हैं। स्त्रियां बहुत ऐसा करती हैं। तुम्हारे घर आहार बना है? हाँ हाँ अच्छा हम भी आती हैं। धोती बदल दें फिर आहार दे दें। वहाँ सभी चीजों का पता नहीं है और कह देती हैं कि महाराज आहार जल शुद्ध है। अरे ऐसा कहने का उन्हें क्या अधिकार? तो सर्व बातों का ज्ञान होना चाहिए। क्या बना है, कैसी चीज है, आहार का भी ज्ञान हो, आहार देने की विधि का भी ज्ञान हो, कुछ धार्मिक ज्ञान हो ताकि समझ में तो आ जाये कि यह साधु है, पात्र है, अमुक है इस सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञान हो, तो दातार में ज्ञानगुण भी होना चाहिए।

दया—छठा गुण है दया। दयाशील साधु हो। किसी भी दूसरे पुरुष पर दया न रक्खे, खुदगर्ज हो, निर्दयी हो, ऐसे पुरुष के हाथ का आहार लेना योग्य नहीं है। कोई कहे वाह हम निर्दय है तो रहने दो, हम खुदगर्ज है तो तुम्हें इससे क्या मतलब? तुम्हें तो भक्तिभाव से ही आहार दिया जा रहा है। तुम्हें तो कुछ टोटा नहीं है। बढ़िया चीज बनाया है और बड़े आदर से आपको दे रहे हैं क्यों नहीं लेते? अरे कहने दो। जो पुरुष अन्य जीवों के लिए निर्दय है, किसी के उपकार के काम नहीं आता है उससे सेवा लेने में कुछ संकोच होता है कि नहीं? अपने-अपने अनुभव से विचारो। जो पुरुष दयाहीन हैं, अन्य जीवों के किसी भी काम में नहीं आते, खुदगर्ज हैं, ऐसे दातार साधु को आहार देने के योग्य नहीं माना गया है। दया होनी चाहिए सर्व जीवों के प्रति। यहाँ दया से मतलब यह नहीं है कि साधु पर दया करे ऐसा गुण होना चाहिए, किन्तु दया का स्वभाव होना चाहिये। ऐसे दयालु स्वभाव वाले श्रावक से साधुजन आहार लिया करते हैं।

क्षमा—7 वां गुण है क्षमा। क्षमा की प्रकृति का होना। अन्यथा कहो उसी समय जरा-जरासी बातों में क्रोध करे। कोई चीज दे रहा है, कोई पुरुष उससे कहे कि तुम देना नहीं जानते हो, यों दो, इतने में ही गुस्सा चढ़ सकती है। तुम आए बड़े देने वाले, कहो वही लड़ बैठे। साधु तो आहार कर रहा है और वह वही लड़ बैठे। तो क्षमा का भी गुण दातार में होना चाहिए। कुछ भी किसी से अपराध बन गया, वहाँ क्षमा होना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य समयों में भी क्षमा की प्रकृति वाला दातार को होना चाहिए। क्रोधी पुरुष के हाथ का तो आहार भी पचना कठिन है।

क्रोधशील पुरुष द्वारा प्रदत्त आहार का परिणाम—गुरुजी ने एक बार सुनाया था कि ईसरी में एक ब्रह्मचारी आये थे। थे तो बड़े श्रद्धालु, किन्तु क्रोध की प्रकृति अत्यधिक थी। एक दिन आहार बनाया, उसमें वह चीज लाये जिसमें गुरुजी का उस दिन त्याग था। जैसे मानो सावन में आम नहीं खाते हैं, ऐसी कुछ बात थी, पर दूसरे के द्वारा कुछ मना किये जाने पर एकदम क्रोध आ गया और कहा कि कल हम आहार करेंगे, अगर महाराज आहार न लेंगे तो हम कुए में गिरकर मर जायेंगे। खैर ऐसा कोई कहे तो वहाँ आहार को जाना चाहिए ऐसी विधि नहीं है। न जावे। सिद्धान्त में यह आज्ञा है कि न जावे। अपना विनाश करने वाला कोई नहीं है। और इस भय से यदि उस ही के घर जाने लगे तो रोज कहने वाले मिलेंगे और गिरने की धमकी देने वाले मिलेंगे, तब रक्षा साधु अपनी कैसे करेंगे? हठ करे, कोई भी भय दिखाये कि हमारे यहाँ आहार करने जाना ही पड़ेगा तो आज्ञा नहीं है कि वहाँ जाय। लेकिन गुरुजी तो कोमल स्वभाव के थे। गये, भोजन किया। उस भोजन के बाद उनके जो मलेरिया आई कि उस मलेरिया ने 20, 25 दिन पिंड नहीं छोड़ा। दातार को क्षमाशील होना चाहिए। उसके ही हाथ का आहार ग्रहण करना साधु को योग्य है।

सप्तगुण सहित दातार द्वारा दत्त आहार के ग्रहण का विधान—ऐसे दातार के जो सात गुण हैं, दातार उन गुणों से सहित हो और शुद्ध हो, आचार विचारों का पवित्र हो और बाह्य में भी स्नान किए हुए शुद्ध वस्त्र पहिने हुए हो, ऐसे योग्य आचरण वाले उपासक के द्वारा दिए गए भोजन को साधुजन ग्रहण करते हैं। ऐसे जो परमतपस्वी पुरुष है उन्हें आहारविषयक आसक्ति नहीं रहती। यद्यपि आहार संज्ञा छठे गुणस्थान तक है, पर आहार संज्ञा की भी तो अनेक डिगरियां हैं। छठे गुण स्थान में आहारविषयक वाञ्छा का संस्कार अत्यन्त शिथिल है। श्रावक की भांति भी नहीं और अन्य अज्ञानियों की भांति तो कुछ भी नहीं है। ऐसे निरपेक्ष परमतपोधन सप्तगुणसहित श्रावक के हाथ का आहार ग्रहण करते है और उनके एषणासमिति होती है।

समिति में निवृत्ति अंश का आदर—एषणा नाम है आहार की खोज करने का, पर इस तरह की खोज नहीं कि ढूढ़ रहे हैं, कहीं आहार बन रहा है और हाथ मारकर ले गए, इस प्रकार का नहीं, किन्तु चर्या से जाकर वहाँ किसी दातार ने भक्तिपूर्वक शुद्ध विधि से आदि आहार दान किया तो वहाँ आहार ग्रहण करते हैं। इस वृत्ति का नाम है एषणासमिति। प्रत्येक समिति में निवृत्ति भरी हुई है। प्रवृत्ति की मुख्यता नहीं है, प्रवृत्ति की मुख्यता हो तो वहाँ संवर निर्जरा न होगा, सो वहाँ अनशन स्वभाव वाले आत्मतत्त्व का ध्यान रखते हुए आहार को वे ग्रहण करते हैं अर्थात् निश्चयसमितिपूर्वक व्यवहार-एषणा का पालन करते हैं।

साधु योग्य नवकोटिविशुद्ध आहार—साधुजन नवकोटि विशुद्ध आहार लेते है, अर्थात् जिसे न मन से किया हो, न कराया हो, न अनुमोदा हो, न वचन से किया हो, न कराया हो, न अनुमोदा हो, जिसे काम से न किया हो, न कराया हो, न अनुमोदा हो ऐसा नवकोटि विशुद्ध आहार साधुजन लेते हैं। प्रासुक भोजन का भी साधु के आरम्भ हो तब भी उसमें दोष है। साधुजन अपना अधिक ध्यान रखकर आहार को करें, करायें अथवा अनुमोदे तो भी आरम्भ के दोष का भागी होना पड़ता है। गृहस्थजन आरम्भ करने के दोषी है ही। वे त्रसहिंसा के त्यागी हैं, पर स्थावर हिंसा का त्याग गृहस्थ के नहीं है। वे अपने लिए कल्याण भाव से शुद्ध भोजन किया करते हैं, उस बने हुए शुद्ध भोजन के समय साधुजन आ जायें तो श्रावक के अतिथि संविभाग होता है, वे अपनी वृत्ति का पालन करते हैं, वहाँ साधुजन आहार करने आयें तो दोष नहीं है।

साधुयोग्य मनोहर एवं प्रासुक आहार—साधुजन मनोहर आहार करते हैं। अमनोहर पदार्थ न होना चाहिए। यदि आहार बेडोल, बेरूप, बैरंग, बेढंग का हो तो उसे आहार के करने में एक आसक्ति का भी दोष लगता है। इतनी तीव्र आसक्ति है कि कैसा ही बेडोल आहार बना लो और फिर भी उसे खाया जाय, ऐसे आहार के करने में आसक्ति की भी बात आती है। साथ ही उसमें यह भी बात गर्भित है कि बनाने वाला कलावान् नहीं है। जिसके बनाने की रंच भी कला नहीं है उसके बनाने में सावधानी भी नहीं हो पाती है। इस कारण साधुजन मन को हरने वाले आहार को ही लेते हैं। साधुजन प्रासुक ही आहार लेते हैं। ऐसे आहार को भी साधुजन लड़ भिड़कर नहीं लेते। मांगकर नहीं लेते, किन्तु नवधा भक्ति से कोई आहार कराये तो आहार लेते हैं। वे नौ भक्ति कौनसी हैं उन्हें सुनिये।

प्रतिग्रह—नवधाभक्ति में प्रथम है प्रतिग्रह पड़गाहना। सामने आते हुए साधु को ग्रहण करना, ले लेना। जैसे जब बारात आती है तो लड़की वाला कहता है कि टाइम हो चुका अब बारात ले लो। बारात ले लेने का अर्थ है कि कुछ आगे जाकर बारात को साथ में अपने घर ले आवे। सर्व प्रथम बारात लायी जाती है वह बारात प्रतिग्रह हुआ। कोई आपका दामाद अथवा अन्य कोई आये और आपको सामने से दिख जाय तो आप अपनी बैठक छोड़कर थोड़ा जाते हैं और उसे ले आते हैं। यह हुआ रिश्तेदार का प्रतिग्रहण। यों ही साधुजन अपने मार्ग से चले जा रहे हैं, यदि उनका प्रतिग्रह न किया जाय तो वे आपके घर में न आयेंगे। उनका प्रतिग्रह इस प्रकार है नमोस्तु बोलना और अन्न जल शुद्ध बना हुआ है ऐसा ज्ञापित करके निवेदन करना कि आप ठहरें इसका नाम प्रतिग्रह है। फिर यह कहें कि गृह में प्रवेश कीजिए। अब घर में प्रवेश कराया जाय।

उच्चस्थान—घर में ले जाकर उच्च आसन पर बिठा देना। उच्चस्थान पर बैठने के लिए प्रार्थना करना। दूसरी भक्ति है उच्च स्थान। साधु घर में पहुंच गया और छोटासा तख्त भी पड़ा हुआ है पर साधु स्वयं उस पर अपने आप नहीं बैठेगा। आप निवेदन कीजिए कि महाराज आप उच्च आसन पर पधारे तो वे बैठेंगे। इन भक्तियों को सुनकर थोड़ा ऐसा लगता होगा कि यह तो कुछ सम्मान और गर्व की बात है। उच्च स्थान पड़ा हुआ है और जान भी रहे है कि हमारे बैठने को ही डाला है पर जब तक कोई कहता नहीं तब तक नहीं बैठते तो यह तो गर्व की बात है। अरे गर्व की बात नहीं है। आहार एक ऐसा कार्य है कि वहाँ कितने ही कारणों की वजह से पूर्ण भक्ति देखे तब ही आहार किया जाना चाहिए। अन्य सब बातों के लिए तो सारा समय पड़ा हुआ है। आहार विधान के अतिरिक्त अन्य समय में कोई उपसर्ग करे, अपमान करे, कैसी भी स्थिति गुजरे, वहाँ साधु ध्यानस्थ रहते हैं। आहार के समय में भी समता हे, पर आहार करने का कार्य पूर्ण रूप से नवधाभक्ति हुए बिना नहीं हुआ करता है।

पादप्रक्षालन—तीसरी भक्ति है पादप्रक्षालन, उनके चरण धोना। चरण धोने में भी श्रावक को परख लेते हैं कि यह समझदार ज्ञानी भक्त है अथवा नहीं, कई बातें जान ली जाती हैं। पानी ज्यादा बखेड़ दें, अधिक पानी से चरण धो दें तो साधु जान जायेगा कि यह समझदार गृहस्थ नहीं है। साधु की विधि भली भांति याद होनी चाहिए और चरण धोने की प्रक्रिया में कैसे हाथ लगायें, किस ढंग से बैठें, उन सब मुद्रावों से भी यह जान लिया जाता है कि यह प्रीतिपूर्वक हृदय से यत्न कर रहा है अथवा नगर में आ गए तो करना ही पड़ेगा इस कारण कर रहा है, कुछ भी उपेक्षा गृहस्थ की समझ में आये तो साधुजन वहाँ से लौट जायेंगे।

अर्चन—चौथी भक्ति है अर्चन, अभिवादन, अभिनन्दन, पूजन, गुणस्मरण। पादप्रक्षालन करने के बाद थोड़ा भी कीर्तन करे, धन्य हो महाराज हमारा जन्म सफल हो गया, इतना ही अगर प्रीतिपूर्वक कर दे तो वह अर्चन में शामिल है। उनके लिए चन्दन, अक्षत, धूप आदि सर्व द्रव्य हो, उनकी पूजा भी हो, ऐसा थोड़ा-थोड़ा बढ़कर एक व्यर्थ का व्यवहार बन गया है। जिस साधु को आत्मकल्याण की धुन के कारण इतनी फुरसत नहीं है कि किसी के यहाँ चौकी पर पालथी मारकर ढंग से बैठकर मौज पूर्वक खा सके, जिसको इतनी भी फुरसत नहीं है वह क्या बैठकर घंटा पौन घंटा खराब करेगा? यदि कोई साधु चाहता है कि होने दो पूजन, लगने दो घंटा पौन घंटा तो समझ लो कि उसका दिल कैसा है? साधु नहीं चाहता है कि गृहस्थ के घर हम अधिक समय लगायें और श्रावकजन ऐसा ही बखेड़ा बनाकर उन्हें घंटा पौन घंटा रोग दें तो बतलावो कि साधु की भक्ति की अथवा साधु के प्रतिकूल काम किया। उनकी अर्चना अत्यन्त थोड़े समय में होनी चाहिए।

प्रणाम और योगशुद्धि—5 वीं भक्ति है प्रणाम, उनका प्रणमन करना, उनको प्रणाम करना, नमस्कार करना, सिर झुकाकर हाथ जोड़कर अथवा घुटने टेककर उन्हें प्रणाम करना। यह प्रणमन नामक भक्ति है। इसके बाद यह निवेदन करना कि मेरा मन शुद्ध है, मेरे मन में कोई दोष नहीं आया है इस आहार की विधि में, अथवा अप्रीति पूर्वक, खेदपूर्वक आहार नहीं बनाया। बड़ी प्रसन्नता से शुद्धि सहित यह आहार बना है। वचन भी मेरे शुद्ध हैं यह तो प्रकट ज्ञात होता है, काय भी शुद्ध है, यों शुद्धि बोलना चाहिए—इसके बाद चौके के निकट पधरायें और कहें, कहें अन्न जल शुद्ध है, महाराज आहार ग्रहण कीजिए।

किसी न किसी अंश में सबके प्रति नवधाभक्ति की झलक—इस प्रकार की नवधाभक्ति होने के पश्चात् साधुजन आहार लेते हैं। आपको यह बात कुछ ऐसी लग रही होगी कि यह कुछ बहुत बढ़ चढ़कर बात हो रही है। यह बढ़ चढ़कर बात नहीं है। आप अपने रिश्तेदारों को भी खिलाते हैं तो किसी न किसी रूप में नवधाभक्ति करते हैं। चाहें किसी भी रूप में करें। साधुवों की बात साधु के योग्य है, व्यवहार की बात व्यवहार के योग्य है, आप बुलाते है कि नहीं चलो लाला साहब भोजन तैयार है, यही तो पड़गाहना हुआ लाला जी का। और जब घर के भीतर ले जाते हैं तो बैठक में बैठते हैं चलिये कुर्सी पर, इतनी देर में भीतर आवाज गई, अभी कितनी देर है? भीतर से आवाज आयी कि अब देर नहीं है बुला लो। सो अब जल लेकर आ गये चलो लाला जी पैर धोवो। बिना पैर धोए तो चौके में नहीं जाते। अब आज की पद्धति में हम क्या बात कहें? हम तो जो भारत की पुरानी पद्धति है उसके अनुसार कह रहे हैं। सो आज की पद्धति में खाने वालों ने अपमान अपने आप कराया। यदि ऐसा न करते तो उनकी नवधाभक्ति होती। यहाँ तो सीधा दरवाजे के पास के कमरे में बैठाल दिया कुर्सी पर, टेबल रख दिया और भीतर से खां साहबान प्लेट लेकर आ गये। तो उन्होंने खुद अपना अपमान कराया। नहीं तो आदर होता।

खैर, अब लाला जी का पैर पखारा गया, फिर इसके बाद ही थोड़ा सा गुण कीर्तन करते हैं। बहुत दिन में आये हो, धन्य हो, कुछ भी कहें, इसके बाद कुछ न कुछ हाथ जोड़कर कहते हैं। कि आइये चाहे थोड़ा ही हाथ जोड़ें, पर कुछ न कुछ हाथ जुड़ ही जाते हैं। वहाँ मन, वचन काय के शुद्ध बोलने की कुछ बात ही नहीं है। वह तो होना चाहिए लाला जी के योग्य मन, वचन, काय। फिर इसके बाद में कहते हैं कि भोजन कीजिए। अगर वे लाला जी तनिक भले हैं, शुद्ध खाते हैं

तो कह देंगे कि सब ठीक है, कुवां का पानी है, हाथ का पीसा आटा है, भोजन कीजिए और जो अगड़म बगड़म खाने वाला है तो कह देंगे कि अच्छा भोजन शुरू कीजिए। क्या शुरू किया जाय, सो वह सब जानता है।

योग्यदाता व योग्य भक्ति —नवधाभक्ति पूर्वक जो आहार दान किया जाता है उसे साधुजन ग्रहण किया करते हैं। यों नवधाभक्ति से 7 गुणों से भरा हुआ श्रावक जिसका कि योगय आचरण है, 7 व्यसनों का त्याग है, न जुवा खेलता है, न मांस मदिरा खाता पीता हो, न शिकार खेलता हो, न चोरी करता हो, न झूठ बोलता हो, न परस्त्रीगामी हो, न वेश्यागामी हो—ऐसे शुद्ध आचरण वाला श्रावक हो उसके हाथ से ही आहार बना हो तो तपस्वीजन आहार ग्रहण करते है। निश्चय से देखा जाय तो इस जीव के आहार ही नहीं होता। आहार मूर्तिक है, आत्मा अमूर्तिक है। अमूर्तिक आत्मा में आहार का सम्बन्ध कहा होता है? इसके आहार करने का स्वभाव नहीं है, किन्तु व्यवहार से जब यह जीव इस असमानजातीयो पर्याय को ढो रहा है तो उसके आहार भी चलता है।

षड्विध आहार में नोकर्माहार—वे सब आहार 6 प्रकार के होते हैं। यहाँ कवलाहार का वर्णन है पर सब प्रकार के आहार 6 तरह के होते हैं। एक तो कर्माहार होता है। अपने शरीर में चारों ओर से वर्गणाए आती हैं, सूक्ष्म परमाणु स्कंध आते हैं और शरीर में सीधे प्रवेश कर जाते हैं, शरीररूप बन जाते हैं यह है नोकर्माहार। जब हम आप कवलाहार नहीं कर रहे, ग्रास लेकर आहार नहीं कर रहे तब ही नोकर्माहार हम सबमें चलता रहता है—उसी का विशेषरूप है इन्जेक्शन। इन्जेक्शन से बाहर की चीज शरीर में प्रवेश करा दे, पर यह प्राकृतिक इन्जेक्शन है कि शरीर की वर्गणाए पुद्गल स्कंध के चारों और भरी पड़ी हैं, वे शरीर में आती हैं और शरीररूप बन जाती हैं यह है नोकर्माहार।

कर्माहार व लेप्याहार—दूसरा है कर्माहार जीव को ग्रहण कर रहा है। चूकि यह जीव व्यवहारदृष्टि में असमानजातीय पर्याय के बन्धन में है, इस कारण इस जीव के साथ इन पुद्गल वर्गणावों को ग्रहण करने का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। कर्मों को ग्रहण करना सो कर्माहार है। यह कर्माहार भी प्रति समय इन संसारी जीवों के चलता रहता है। एक आहार है लेप्याहार—लेपकर आहार लेना। जैसे पेड़ हैं ये किस तरह आहार लेते हैं? इनके मुख तो है नहीं, ये लेपकर आहार लेते हैं। जड़ों में मिट्टी पानी आदि चिपक जाता है, लिप जाता है और उसही के माध्यम से वह पुष्ट हो रहे हैं, आहार ग्रहण करते हैं।

कवलाहार—एक होता है कवलाहार, जिसमें बहुत बड़ी परेशानी है—कमावें, इकट्ठा करे फिर भोजन बनावे, तैयार करे, इतनी विपत्तियों द्वारा साध्य है यह कवलाहार। यहाँ तक तो उसकी एक प्राकृतिकसी बात चल रही है, पर यहाँ तो जान बूझकर कुछ उद्यम करके ही कवलाहार की बात की जा सकती है। कमाना भी पड़ता है, सामने हाजिर भी हो जाय तो भी उठकर खाने के लिए यत्न किया जाता है। उद्यम किए बिना कवलाहार नहीं बनता है। कवलाहार देव और नारकियों के भी नहीं होता है। यह तो दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के तिर्यञ्चों में और मनुष्यों में हुआ करता है।

ओजाहार व मानसिक आहार—एक आहार का नाम है ओजाहार। चिड़िया अंडे देती है, उस अंडे में वह जीव कई दिन तक रहता है। उस बच्चे को कैसे आहार मिले? उस अंडे पर चिड़िया बैठ जाती है और अपनी छाती की गरमी देती है जिसे कहते हैं अंडे को सेया, वह सेया क्या है? अपने शरीर की गरमी अंडे में पहुंचायी, यह है ओजाहार। एक आहार होता है मानसिक आहार। मानसिक आहार देवों के होता है। भोजन की इच्छा हुई कि उनके गले से एक सुधा सरती है और उससे तृप्त हो जाते हैं। इन 6 प्रकार के आहारों के बिना शरीर कायम नहीं रह सकता भले ही किसी में एक आहार

हो, किसी में दो हों, किसी में तीन हों, पर छहों आहार एक जीव में नहीं होते। कुछ विशेष हो या एक हो। होना चाहिए। आहार न हो तो शरीर की स्थिति नहीं रह सकती।

संयोगकेवली के नोकर्माहार—कोई मनुष्य मानो 8 वर्ष की उम्र में साधु बन जाय और उसके भाव बढ़े, क्षपक श्रेणी में चढ़े और अरहंत हो जाय, तेरहवें गुणस्थान की स्थिति हो गयी और आयु है उसकी मान लो एक कोट पूर्व की। एक कोट पूर्व में करोड़ों वर्ष होते हैं। तो 8 वर्ष कम इन करोड़ों वर्षों तक अरहंत भगवान् बना रहेगा। लोगों को उसका दर्शन मिलेगा। अब यह बतलावो कि अरहंत भगवान् कवलाहार करते कि नहीं? नहीं करते। करोड़ों वर्ष तक वे भोजन नहीं लेते। उनके शरीर की स्थिति कैसी रहती है? नोकर्माहार के कारण, शरीर वर्गणाए उनकी पवित्र औदारिक शरीर में आती रहती है और केवल नोकर्माहार के बल पर उनका शरीर करोड़ों वर्ष तक बना रहता है और वह भी शरीर पूर्ण बल युक्त होता है। उनके कर्माहार नहीं है, लेप्याहार नहीं है, कवलाहार नहीं है, ओजाहार नहीं है, मानसिकाहार नहीं है केवल एक नोकर्माहार है। शरीर की वर्गणाए आती हैं और उनके कारण शरीर टिका रहता हैं। ये 6 प्रकार के सभी आहार एक विभावरूप है, व्यवहारनय की अपेक्षा से ये 6 प्रकार के आहार हैं। निश्चय से साधुवों का कैसा आहार होता है? इसको परिचय में उदाहरणरूप साधुवों के आंतरिक वृत्ति के आहार की बात कहेंगे।

अनाहारता की सिद्धि के लिये आहार—साधुसंत जिनको यह श्रद्धा है कि मैं आत्मा आहार रहित हू, अनाहारस्वभावी हू ऐसे साधुसंतों के अंतरंग में ऐसी प्रतीति रहती है, वह तो तप है ही, किन्तु अनाहार स्वभावी आत्मतत्त्व की सिद्धि के लिए जो निर्दोष आहार को ग्रहण करते हैं वह भी तप है। क्या करते हैं साधुजन? अनाहारस्वभावी आत्मा को सिद्ध करने के लिए आहार करते हैं अर्थात् मुझे अनन्तकाल तक भी आहार न करना पड़े, ऐसी सिद्धि का प्रयोजक आहार करते हैं। जिज्ञासा हो सकती है कि क्या ऐसा भी सम्भव है कि आहार न करने के लिए आहार करते हैं? हो सकता है।

देखो कोई रईस पुरुष बीमार है, कमरा सजा हुआ है, डाक्टर दो तीन-तीन घंटे में खबर ले रहे हैं। नौकर-चाकर भी लगे हैं, सभी वस्तुवें उपस्थित हैं, परिवार, मित्रजन, इष्टजन बड़ी चापलूसी करके उसका चित्त खुश कर रहे हैं, वह दवाई ले रहा है, लेकिन उसके भीतर से पूछो कि क्या तुम दवाई खाते रहने के लिए दवा ले रहे हो या दवाई न खाना पड़े इसके लिए दवाई ले रहे हो? रोगी पुरुष दवाई न खाने के लिए दवाई खा रहा है। तो ज्ञानी पुरुष भोग न भोगने के लिए भोग भोग रहा है। बड़े पुरुषों की बात छोटों में नहीं होती है, ज्ञानियों की बात अज्ञानी लोगों में नहीं होती है, निर्मोहियों की बात मोही पुरुषों की भांति नहीं होती है, इसलिए किसी को शंका हो सकती है पर अन्तर में यह आशय ज्ञानी का विशुद्ध बन गया है कि लौकिक सुख को भोगने के लिए नहीं भोग रहा हू किन्तु सुख दुःख दोनों से निवृत्त होकर स्वाधीन ज्ञानानन्द स्वरूप के विकास के लिए मैं इससे निपट रहा हू। अब देखो जो रोगी औषधि के परिहार के लिए औषधि खा रहा है उसे औषधि खाने वाला नहीं कहा जायेगा, यों ही वियोगबुद्धि से उपभोक्ता को उपभोक्ता नहीं कहा जायेगा।

प्रवृत्ति में निवृत्ति का प्रयोजन—जो किसी सेवा से निवृत्त होने के लिए अंतिम सेवा कर रहा है उसे सेवा करने वाला नहीं कहा जाता। जैसे मानों दो मित्र बड़े परस्पर के हित चाहने वाले हैं, उनमें हो गया झगड़ा अथवा दो साझेदार हैं और उनमें हो गया मनमुटाव, तो मन में यह ठान लिया कि मुझे तो उससे पृथक् होना है, अब ऐसा पृथक् होने के लिए आखिरी व्यवहार प्रेम का भी कर रहा है और बड़ी मित्रता के वचन भी बोल रहा है, पर यह सब व्यवहार पृथक् होने के लिए हैं ऐसा व्यवहार मिलन बनाये रहने के लिए नहीं है, यों ही जानो कि इन विषयों से इस जीव की अनादि काल से

मित्रता चली आ रही है। अब इस ज्ञानी संत का विषयों के भाव से मनमोटाव हो गया है, अज्ञान हट गया है, विवेक जग गया है, लेकिन अभी फंसा है। परिस्थिति विचित्र है। ऐसी स्थिति में आहार भी करना पड़ता है और कुछ मानसिक शारीरिक वेदनाए बढ़ती है तो उनका परिहार भी कर रहा है, पर इस ज्ञानी ने अपने मन में यह ठान ली है कि मुझे तो सबसे न्यारा होना है और अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में मग्न होना है, ऐसी ठान ठानने वाले साधुसंत अनाहार स्वभाव की सिद्धि के लिए आहार लेते हैं, तो वे श्रवण आहार करते हैं या अनाहारी हैं, वे साधुसंत आहार करते हुए भी अनाहारी हैं।

ज्ञानी की सदाशयता पर एक दृष्टान्त—निकटभव्य जीव जो मुक्ति के अत्यन्त निकट हैं, संसार से हटने वाले है उन्हें संसार की बातें करनी भी पड़े तो भी वे हटे हुए करते हैं। किसी सेठ की लड़की विवाह योग्य हो गयी। सेठ कहीं बाहर किसी नगर में वर ढूढ़कर आया। अब घर पर सेठ सेठानी में बातें हो रही हैं, हम अमुक नगर में वर ढूढ़ आये हैं, पक्का भी करके आए हैं, इतनी जायदाद है, इतना पढ़ा लिखा है, दूकान है, किराया है, बातें हो रही हैं, सेठ सेठानी से सब कहता जा रहा है। बिटिया वही पीछे बैठी हुई सब बातें सुन रही है। सुनते ही उसके दिमाग में आ गया कि मेरा तो वह घर है और यहाँ पिता के यहाँ पड़ा हुआ लाखों का वैभव मेरे लिए कुछ नहीं है। इतने पर भी क्या वह लड़की पिता की जायदाद को बिगाड़ देती है? क्या वह सारी व्यवस्था ज्यों की त्यों नहीं करती है, कहो पहिले से भी ज्यादा करे यह समझाने के लिए कि मेरा दिल तुमसे हटा नहीं है। कहो पहिले से भी ज्यादा मन लगाकर पिता का कार्य करे। तब भी उसके चित्त में दूसरी ही बात समायी है कि मेरा सर्वस्व वैभव वह है। यहाँ से विरक्ति आ गयी है। ऐसे ही इस संसार में अनादिकाल से बसे हुए इन जीवों में से जिस निकट भव्य ने यह बात समझ ली है, ज्ञान जग गया है, मुझे तो मुक्त होना है, संसार के सब झंझटों से मुक्त होकर वहाँ जाना है, वहाँ ही मेरा अनन्तकाल आनन्द में बीतेगा ऐसा जिसका दृढ़ निर्णय हो गया है, घर में रहते हुए भी उसका चित्त घर में नहीं है। घर में क्या संसार में नहीं है। चित्त तो परमात्मतत्त्व में है, कारणसमयसार में है।

प्रमत्त अवस्था में भी ज्ञानी की परमोपेक्षा—भैया ! परम उदासीन होने पर भी यह ज्ञानीसंत जिस समागम में रह रहा है, जिस व्यवहार में रह रहा है—क्या वहाँ जी तोड़ बात करेगा, क्या प्रेमालाप न करेगा? क्या सबको यों कहेगा कि तुम सब विनाशीक हो, असार हो, भिन्न हो? यद्यपि वह कहता नहीं है किसी से, पर चित्त में सब जानता है। और कहो कुछ उस ज्ञानी को यह विदित हो जाय कि हमारे घर के लोगों को, मित्रों को यह विदित हो गया है कि मैं विरक्त हो गया हू तो कहो उनका मन रखने के लिए पहिले से भी अधिक प्यार पूर्वक बोले, लेकिन यहाँ तो मामला ही उलट चुका है। दृष्टि तो स्वरूप विकास की ओर लग गयी। जिस ज्ञानी ने अध्यात्म के सार का निश्चय किया है—क्या है अध्यात्मतत्त्व? केवल ज्ञानमात्र ज्ञातादृष्टा रहना—यह मेरा सर्वस्व वैभव है—इतना ही मात्र मैं हू, इससे अतिरिक्त अन्यत्र में कहीं कुछ नहीं हू, न मेरा कहीं कुछ है, ऐसे चैतन्यस्वभावमात्र अपने तत्त्व का जिसने निश्चय कर लिया है और जो यम नियम कर सहित है, ऐसा पुरुष तो इन समस्त क्लेशजालों को जड़ से उखाड़ देता है।

यम और नियम—साधु पुरुष यम और नियम की साधना में बहुत सावधान रहते हैं। और सावधानी क्या? जिसको भीतर में ज्ञानकला जग गयी उसको यम और नियम का पालन करना तो सहज हो जाता है जिसको आत्मीय आनन्द का अनुभव हो गया है ऐसे पुरुष को बाह्यपदार्थों का परित्याग, बाह्यपदार्थों की उपेक्षा वे सब सुलभ हो जाते हैं। यम कहते हैं यावत् जीवन विषय-कषाय का त्याग करने को और नियम कहते हैं किसी समय की अवधि लेकर त्याग करने को। जैसे

किसी ने प्रतिज्ञा ली कि दस लक्षणी के दिनों में शुद्ध ही खाऊगा और जो प्रतिमाधारी पुरुष है उसको यावत् जीवन शुद्ध खाने का संकल्प है। यावत् जीवन जो त्याग का संकल्प है, प्रवृत्ति है उसको तो कहते हैं यम और कुछ समय की अवधि लेकर कोई प्रतिज्ञा निभाना इसको कहते है नियम। नियम की अपेक्षा यम में बल बहुत है। दस लाक्षणी के दिनों में तेरस को भोजन करके चौदस को आहार की प्रतिज्ञा लेंगे उपवास की तो तेरस को ही यह दिमाग में है कि आने तो दो पूर्णिमा का दिन। तो जहां नियम होता है इतने समय तक के लिए मेरा अमुक वस्तु का त्याग है वहाँ उसके बाद का संकल्प भीतर पड़ा हुआ है।

सावधि नियम में अन्तःनिहित संकल्प—एक घर में एक सांप था, वह बड़ा सीधा था। सो बालक जब दूध पीता था तो उस रखे हुए दूध को सांप आए और खूब अच्छी तरह से पी ले। सो वह सांप बड़ा तन्दुरुस्त रहे, शांत रहे और प्रसन्न रहे। दूसरे सांप ने आकर उस सांप से पूछा—यार तुम कहां से मालटाल रोज छान आते हो? तो उस सांप ने कहा—हम दूध पीते हैं इसी से मोटे हो रहे हैं। बालक मुझे थप्पड़ मारता है तो उन थप्पड़ों को मैं बराबर सहता रहता हू और दूध पीकर चला आता हू। दूसरा सांप बोलता है कि अच्छा हम भी ऐसा ही करेंगे। वह सांप बोला कि तुम ऐसा न कर सकोगे। ऐसा करने के लिए बड़ा धैर्य और शांति चाहिए, क्रोध का त्याग चाहिए। दूसरा सांप बोला हम ऐसा कर लेंगे। अरे भाई तुम ऐसा न कर सकोगे। तो दूसरा सांप बोला कि 100 थप्पड़ों तक क्षमा कर देने का मैं नियम लेता हू। अब चला वह सांप दूध पीने के लिए। वह सांप दूध पीता जाय वह लड़का थप्पड़ मारता जाय। अब उसका चित्त दूध पीने में तो न रहा, थप्पड़ गिनने में लग गया। वह थप्पड़ गिनता जाय, 90, 95, 98, 99 और 100 हो गए। एक थप्पड़ जब और मारा तो गुस्से में आकर बड़ी जोर की फुंकार मारी। वह लड़का चिल्लाकर बड़े जोर से भागा। लोग जुड़ आए और वह सांप मारा गया।

साधुसंत का विशुद्ध आशय—भैया ! यम में होता है यावत् जीव विषय-कषाय का त्याग और नियम में होता है किसी अवस्था तक त्याग। जो साधुसंत यम और नियम दोनों प्रकार से संयम को निरन्तर निभाते हैं, जिनका बाह्य आचरण भी अत्यन्त शांत है और अन्तरंग भी अत्यन्त शांत है ऐसे साधुजन इस क्लेशजाल को क्षणभर में नष्ट कर डालते हैं। साधुवों की बाह्यवृत्ति बाह्य मुद्रा शांत रहती है। किसी कारण किसी शिष्य पर कभी क्रोध भी करें तो भी उनका क्रोध ऊपरी है। भीतर के स्वभाव में प्रवेश नहीं करता। होता है ऐसा कि नहीं? होता है। आपका छोटा बालक कोई अनुचित व्यवहार करे तो आप उस बालक को डाटते भी हैं—दो एक थप्पड़ भी लगाते है पर आपका क्रोध ऊपरी है, भीतरी क्रोध नहीं है। कोई दूसरा आदमी थोड़ा गाली भी दे जाय तो वह दूसरे आदमी का वह भीतरी क्रोध है। इसी कारण दूसरे से लड़ाई हो जायगी।

ज्ञानी का हितकर व्यवहार—मां अपने बालक को किसी मुड़ेर पर खेलते हुए देखे तो गुस्सा करती है और गाली देती है, नाश के मेटे, होते न मर गए। कितनी ही बातें वह मां बोलती है लेकिन उस मां को कभी किसी ने बुरा नहीं कहा, हत्यारिन नहीं कहा। और कोई आदमी दूसरा कह तो दे कि तू मर न जा, इतनी बात पर कितना झगड़ा हो जाता है। यों ही गुरुजन साधुजन हैं। उन्हें क्या पड़ी है कि दूसरों पर क्रोध करें, लेकिन जब प्यार होता है तो किसी-किसी प्रसंग में गुरु को शिष्य पर क्रोध आता है उसे किसी-किसी बात पर गुस्सा भी करना पड़ता है। गुरुजी हमें जब कभी बुलाते थे तो मनोहर कहकर बुलाते थे, ऐ मनोहर ! आना और जिस दिन यह बोलते थे "वर्णी जी आना" तो हम समझ जाते कि

कोई गड़बड़ बात है। ऐसी हालत एक आध बार साल में आ जाती थी, फिर भी वे कहते कुछ न थे, बल्कि धर्मचर्चा करने लगते थे, हम सावधान हो जाते थे। तो ज्ञानी संत साधुजनों के अन्तरङ्ग में अन्तर नहीं आता।

साधुवों की मन्दकषायता व अन्तः अनुकम्पा—साधुवों के कुछ संज्वलन कषाय रहता है। ये अनन्तानुबंधी नहीं है, अप्रत्याख्यानावरण नहीं है, तो भी संज्वलन कषाय तो छठे गुणस्थान से लेकर 9 वें गुणस्थान तक तो सब और 10 वें में केवल संज्वलन लोभ रहता है। ऐसा मात्र संज्वलन कषाय में गुरुजन कभी क्रोध करते हैं पर संज्वलन का क्रोध ऐसा होता है जैसे पानी में लकीर खींची जाय। पानी में लकीर खींची जाती है और मिट जाती है। इसी तरह साधुजन बाहर में भी शांत रहते हैं और भीतर में भी शांत रहते हैं। उन साधुवों की चर्चा की जा रही हैं। ये साधु निकटकाल में ही संसार के समस्त जाल समूह को नष्ट कर देने वाले है। उनका परिणमन समाधिरूप होता है। सामायिक संयम उनके प्रकट होता है। वे साधुजन सर्व भूतों में अनुकम्पा भाव रखते हैं।

साधुवों की आहार प्रवृत्ति का प्रयोजन—ऐसे साधु भी जब क्षुधा से उनका शरीर अत्यन्त विकल हो जाता है तो अपना जीवन रखने के लिए वे हितकारी परिमित आहार लिया करते हैं। साधुजन आहार किसलिए लेते हैं कि जीवन बना रहे। साधुजन जीवन रहे ऐसा क्यों चाहते हैं? इस प्रयोजन के लिए कि हम व्रत और तप में समर्थ रहेंगे। किसलिए साधुजन आहार चाहते हैं कि वे अपने ज्ञानस्वभावी अंतस्तत्त्व में संयत हो लें। सब समझ लो कि आहार का क्या प्रयोजन है? अनाहारस्वभावी निज अंतस्तत्त्व में विकास का प्रयोजन है। अब जरा मोहीजनों से पूछ लो कि किसलिए आहार करते हो, तुम्हारा आहार करने का उद्देश्य क्या है? तो यह उत्तर मिलेगा कि आनन्द आता है, रस आता है, अच्छा लगता है, सो मौज मानने के लिए बढ़िया सामान बनाते हैं, खाते हैं। उद्देश्य के अन्तर से जमीन आसमान जितना अन्तर ज्ञानी पुरुष और इन मोही पुरुषों में हो जाया करता है। ससुराल में गाली खूब सुनने को मिलती है ना। कैसी-कैसी गाली सुनने को मिलती हैं कि जिनके बोलने में लाज आती है। पर वहाँ तो बड़े प्रसन्न होकर सुन लेते हैं। अगर वहाँ गालियां सुनने को नहीं मिलती तो समझते हैं कि साले साहब नाराज हो गए हैं क्या? उतनी ही गालियां घर में कोई दे दें तो कहीं लड़ाई हो जाय? तो उद्देश्य के अन्तर में सारे अन्तर आ जाते हैं।

प्रयोजन की सिद्धि—अनाहारस्वभाव की सिद्धि का उद्देश्य रखकर जो साधु आहार में प्रवृत्त होते हैं वे परिमित अल्प आहार करते हैं, उनका निद्रा प्रमाद नष्ट हो जाता है। ऐसे ही साधु पुरुष संसार के सारे क्लेश को नष्ट करते हैं। अंतिम आचार्य संतों का यह संदेश है कि देखो भक्त श्रद्धालु पुरुष की अंगुलियों से दिये गए भोजन को साधु ग्रहण करते हैं और ज्ञानप्रकाशमय आत्मा का ध्यान किया करते हैं, तप को तपा करते हैं। ऐसे तपस्वी साधु पुरुष ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं। इस कारण हे कल्याणार्थी मुमुक्षु पुरुषों सर्व प्रकार का उत्साह बनाकर, प्रयत्न बनाकर सर्व पर से विरक्त होकर एक मात्र निज शुद्ध स्वच्छ ज्ञानमात्र निष्कलंक इस आत्मतत्त्व की उपासना करो और ये सब समितियां पालते हुए ध्यान रक्खो कि मुझे तो परमार्थस्वरूप निज अंतस्तत्त्व में प्रवेश पाना है। ऐसा ध्यान रखकर जो साधुजन समिति में प्रवृत्त होते हैं वे साधु पुरुष निकट काल में ही सर्वक्लेशजालों से दूर हो जाते हैं।

स्वभावविरुद्ध प्रवृत्ति पर खेद—हम आप सब जीवों का स्वरूप प्रभु की तरह अनन्त आनन्द का निधान है, किन्तु एक अपने इस स्वरूप का भान न होने के कारण इन्द्रिय के विषयों में यह भटक रहा है। धन जैसी तुच्छ चीज जिसका मूल्य कंकड़ पत्थर की तरह है उसको यह हृदय से लगा रहा है। कहां तो सारे विश्व को जाने देखे, ऐसी कला वाला है यह

आत्मा है और कहां यह स्वरूपविरूद्ध नृत्य कर रहा है? इन रूपी पदार्थों में जो अपने स्वरूप से अत्यन्त भिन्न है, इन पुद्गलों से इन आत्मा का रंच भी नाता नहीं है, पर कैसा पागलपन छाया है कि यह जीव अपने महत्त्व को नहीं चूक सकता कि मैं इतना वैभवशाली हू, और निज की ओर से मुख मोड़कर दीन बनकर भिखारी की तरह परपदार्थों की ओर निगाह लगाये हुए है। रात दिन धन के सपने हैं। रात दिन इन लोक में मायामय स्वरूप में मेरी इज्जत बन जाय, इसका ध्यान है। अरे मूढ़ आत्मन् ! इस लोक में तेरे को पहिचानने वाला है कौन, जिसके आगे तू नाच नाचने का संकल्प कर रहा है।

प्रभु की विचित्र लीला—अहो ! इस प्रभु की विचित्र लीला है। यह बिगड़ता है तो पूरा बिगड़ कर बता देता है और बनता है तो पूरा बनकर बता देता है। ऐसा हम आप प्रभुवों का महात्म्य है। कहो वृक्ष बन जाय, कहो आग पानी बन जाय, कीड़ा मकोड़ा बन जाय। कहां तो है त्रिलोकोत्तम तत्त्व चित्स्वभाव और कहां हो रहा है ऐसी दरिद्र योनि कुलों को उत्पन्न होने का परिणमन? यहाँ बिगड़ रहा हो कोई रईस आदमी क्रोध में हो तो नौकर-चाकर कहते हैं कि अभी इसे मत छेड़ो, यह क्रोध में है, बिगड़ रहा है, यह बिगड़ेगा तो हम लोगों का बिगाड़ कर देगा। अब मत छेड़ो इस रईस को। ऐसे ही यह प्रभु इस समय बिगड़ रहा है। बिगड़ रहा है तो ऐसा भयंकर बिगड़ रहा है कि कीड़ा मकोड़ा की तो बात ही क्या कहें—यह मनुष्य शरीर में भी है तो क्या यहाँ कम बिगड़ा हुआ है?

वर्तमान विवशता—भैया ! क्या करे यह जीव, कोई शेर किसी कठघरे में बंद हो जाय तो वहाँ से कैसे निकले, अपना चित्त मसोस कर रह जाता है। ऐसे ही यह अन्तरात्मा ज्ञानी साधु संत देह के कठघरे में बंद है तो क्या करे अपने चित्त को मसोस कर रह जाता है। साधु संतों को आहार करना पड़ता है। वह आहार कुछ प्रसन्न होकर नहीं किया करते वह खेद मानकर किया करते हैं कि अब पुद्गलों में, विषयों में सिर मारना पड़ेगा, उपयोग लगाना पड़ेगा, अपने स्वभाव से भ्रष्ट होकर गंदी वासनावों में जाना पड़ेगा। उन्हें इसका खेद होता है। ये साधु पुरुष यों निर्मल परिणामों सहित अपनी प्रवृत्तियों का पालन करते हैं, करना पड़ रहा है। इच्छा तो केवल उनकी एक यह ही है कि वे अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप में निरन्तर निरत रहा करें। इसके अतिरिक्त उन्हें और किसी चीज की कामना नहीं है।

परमार्थ साधुता—गृहस्थ लोग किसलिए साधुवों के उपासक होते हैं? अपने में साधुता पाने के लिये। साधुवों की सच्ची उपासना यही है कि साधुवों के चलते हुए मार्ग पर चलने की उत्सुकता रहना और अनासक्ति से मार्ग पर चलना, किन्तु इस मार्ग पर चलना तब हो सकता है जबकि पहिले बुद्धि में यह बात आये कि सोना, चाँदी, रत्न, जवाहरात, पत्थर, मिट्टी—ये सब मेरे से भिन्न हैं। ये पदार्थ तो व्यवहार में इज्जत बनाने के कारण है, पर लोकव्यवहार की इज्जत भी तो आफत है, मायारूप है, परमार्थ सार उसमें कुछ नहीं है, ऐसा समझकर पहिले अपने को विविक्त देख लो। मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र हू। इसके दर्शन कर लिये तो आपने सब कुछ कर लिया। एक यही काम न किया तो कुछ भी न किया।

गुरुभक्ति —इस मनुष्य भव में आकर जो आत्महित करते हैं, जो साधुसंतों के उपदेशों को पढ़ते हैं, और विवेक में आते हैं वे धन्य हैं। कैसे-कैसे उनके ग्रन्थ हैं? कैसा-कैसा उन्होंने तत्त्व मर्म बताया है? करणानुयोग के ग्रन्थ, द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ, इन सब ग्रन्थों में जब प्रवेश होता है तो ऐसी भक्ति जगती है कि अहो कुन्दकुन्दाचार्यदेव, हे अमृतचन्द्रसूरि, समन्तभद्र आदिक तुम यदि अब होते तो आनन्द के अश्रुवों से तुम्हारे पैर पखार डालते। तुम्हारी चरणरज को अपने

मस्तक में लपेटकर अपने आपको पवित्र बना लेते। उन साधु संतों की वाणी हमारे हृदय में घर कर जाय इससे बढ़कर तीन लोक में हम और आपका कोई वैभव नहीं है। ''चक्रवर्ती की सम्पदा इन्द्र सारिखे भोग। काकवीट सम गिनत हैं सम्यग्दृष्टि लोग।।''

समागम के सदुपयोग का ध्यान—भैया ! यह समागम क्या है? आफत है। मिला है तो इसका सदुपयोग करो और अपने आपके अन्तर में बसे हुए इस सहजज्ञानस्वरूप प्रभु की उपासना करो। ऐसा करने में ही अपना हित है। और बातों का भ्रम छोड़ दो, करना कुछ पड़े पर अन्तर में ज्ञान सही रक्खो तो निकट भविष्य में कभी संसार से पार हो जावोगे। यदि अन्तर का ज्ञान न रहा तो फिर संसार में जन्म-मरण के चक्र काटने पड़ेंगे।

गृहस्थों का कर्तव्य—गृहस्थ लोगों के 6 कर्तव्य हैं। देवों की पूजा करना, पर देवों की पूजा के ढंग में थोड़ी देर में प्रभु के गुणों पर दृष्टि गयी तो थोड़ी ही देर बाद अपने को ज्ञात कर लिया कि ओह यह तो स्वरूप मेरा है। मैं भी तो आनन्दघन हू। कहां क्लेश है? गुरुवों की उपासना करें तो ऐसे विश्वास के साथ करें कि हमारे हिततम यदि कुछ हैं तो ये साधुसंत हैं और उनके सत्संग में रहें, स्वाध्याय करें वह आत्मकल्याण की दृष्टि रखकर करें। दुनिया में किसको हम यह बतावेंगे कि मैं इसका जाननहार हू, अरे यह तो महाविष है। मैं कहां तक दृष्टि रख सकू? इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ज्ञान में स्वाध्याय में निरत रहें। संयम—इन्द्रिय का संयम, जीवरक्षा का संयत कर्तव्य को निभावो और अपनी इच्छा होती है संसार के कामों के करने की, विषयों के भोगों की, उन इच्छावों की रस्सियां काटते रहें। ऐ इच्छावों ! तुम यदि आई हो तो तुम्हें लोटना ही पड़ेगा। तेरा परिहार करके मैं अपने ज्ञानस्वरूप में रमूगा और रोज-रोज दान अथवा समय-समय पर त्याग यह भी आत्मकल्याण के लिए बहुत आवश्यक चीज है। जब तक परद्रव्यों में पुद्गल में यह मेरा कुछ है, इसी से मेरा बड़प्पन है, यह ही हितकारी है ऐसी आसक्ति रहेगी तो धर्म के पात्र नहीं हो सकते हैं। अपना गृहस्थधर्म निभायें और परोक्ष गुरुवों की उपासना से व प्रत्यक्ष गुरु कहीं मिल सकें उन प्रत्यक्ष गुरुवों की उपासना से अपना जीवन सफल करें।

गाथा 64

पोथइकमण्डलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।
आदावणणिक्खेणसमिदी होदिति णिद्दिट्ठा।।64।।

समिति के अधिकारी उपेक्षासंयमी और अपहृतसंयमी—व्यवहारचारित्र अधिकार में पंचमहाव्रत और ईर्या, भाषा, ऐषणा इन तीन समितियों का वर्णन करने के पश्चात् अब आदान निक्षेपणसमिति का स्वरूप कहा जा रहा है। पुस्तक कमण्डल आदिक ग्रहण करना अथवा रखना इन कार्यों में जो उनके प्रयत्न का परिणाम है उसका नाम आदाननिक्षेपणसमिति है। साधुजन दो प्रकार के होते हैं—एक उपेक्षासंयमी, एक अपहृतसंयमी। उपेक्षासंयमी साधु वे हैं जिनको सर्व पदार्थों में परिपूर्ण उपेक्षा है, जो आत्मतत्त्व के चिंतन ध्यान में रत रहा करते हैं। जिनको विहार आदिक से कोई प्रयोजन नहीं है। शुद्धोपयोग के विलास में यथापद रहा करते हैं, ऐसी परम योग्यता वाले साधु उपेक्षासंयमी कहलाते हैं। अपहृतसंयमी वे हैं जिनका शुद्धोपयोग में टिकाव नहीं हो पाता है, तो अन्य शुभोपयोग सम्बन्धी कार्य जिन्हें करने पड़ते हैं। विहार करना, उपदेश आदिक देना, कमंडल, पिछी और शास्त्र का लेना धरना उठाना किन्हीं भी व्यवहार के कार्यों में जो रहते हैं उन्हें कहते हैं अपहृतसंयमी।

उपेक्षासंयम का निर्देशन—उपेक्षासंयम का अर्थ यह है कि जिसका अंतरंग में परम उदासीनता का परिणाम रहता है, परम उपेक्षा रहती है और इस उपेक्षा के कारण अपना उपयोग अपने में संयत रहता है उन्हें कहते हैं उपेक्षासंयमी। उपेक्षासंयमी साधुसंतों को पुस्तक कमण्डल आदिक की आवश्यकता नहीं है। बाहुबली स्वामी का नाम किस संयमी में रक्खा जा सकता है? उपेक्षासंयमी में। भरतचक्रवर्ती साधु हुए, उनका नाम उपेक्षासंयमी में रक्खा जा सकता है। जिनको आभ्यंतर उपकरण निज सहजस्वरूप का ज्ञान होता है, बाह्य उपकरण जहां नहीं है वे हैं उपेक्षासंयमी। कैसा है यह सहजबोध का उपकरण? यह निज परमतत्त्व के प्रकाश करने में समर्थ है।

निर्विकल्पसमाधि का मूल आत्मज्ञानानुभव—साधु का प्रयोजन है निर्विकल्प समाधि। निर्विकल्प समाधि वास्तविक वहाँ ही होती है जहां आत्मतत्त्व के स्वरूप का अनुभव बन रहा हो। आत्मतत्त्व के अनुभव के बिना जब कभी भी स्थिति किन्हीं हठयोगों के द्वारा निर्विकल्प समाधि जैसी कल्पित बनती हो तो वहाँ भी परमार्थत: निर्विकल्प समाधि नहीं है। वहाँ भी अन्तरवृत्ति में कोई विकल्प चल रहा है। जैसे कि एक कथानक है कि एक प्राणायामयोग साधने वाला कोई संन्यासी था। जो 24 घंटे की समाधि लगाया करता था। उसका देह सूनासा हो जाय। साधु को मिट्टी में गाड़ दीजिए, चारों तरफ से छिद्र बंद कर दीजिये, ऐसी स्थिति की समाधि वह संन्यासी लगाया करता था। राजा ने कहा महाराज तुम अपनी 24 घंटे की समाधि लगावो। उसके बाद में तुम जो चाहोगे सो मिलेगा। अब उसने सोच लिया कि हमें राजा से क्या लेना है। उसने समाधि 24 घंटे की लगायी और वह क्या मांगेगा सो अंत में वह एकदम कह देगा। उसने 24 घंटे की समाधि लगायी और समाधि 24 घंटे में भंग होने पर एकाएक बोल उठा लावो काला घोड़ा। उसने काला घोड़ा ही लेने का संकल्प किया था और उस समय चित्तवृत्ति में यह संकल्प ऐसा छुपा हुआ बना रहा कि जिसका वह भी पता नहीं कर सका, पर ऐसा संकल्प रहा आया।

ज्ञानानुभूति बिना केवल चित्तनिरोध से परमार्थ निर्विकल्प समाधि का अभाव—जिस समय यह अन्तरात्मा अपने ज्ञानद्वारा केवल जानन स्वरूप को ही निरखता हुआ, अपने को ज्ञानमात्र ही अनुभव करता है—ऐसी स्थिति में हो तब चूकि जानने वाला भी ज्ञान है और जानन में जो रहता है वह भी ज्ञान है। सो जब ज्ञाता और ज्ञेय जहां दोनों एक हो जाते हैं परमार्थ से निर्विकल्प समाधि वहाँ है। हठयोग द्वारा भले ही श्वास नाड़ी का अवरोध हो, किन्तु वहाँ ज्ञान शून्य तो हो नहीं जाता। ज्ञानमय यह आत्मा ज्ञान से रहित त्रिकाल नहीं हो सकता। कुछ जानता तो है ही। आत्मज्ञान बिना कुछ अट्ट-सट्ट जानता रहता है, तो कोई जब केवल ज्ञानप्रकाश को जान रहा है तब तो वहाँ निर्विकल्प समाधि होती है और ज्ञानप्रकाश का जानन न हो रहा हो तो वहाँ कितनी भी चित्तवृत्ति रुद्ध हो जाय, तथापि वह निर्विकल्प समाधि परमार्थ से नहीं हो सकती है।

उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग—उपेक्षा संयमी जीव परम उत्सर्ग मार्ग का अनुसरण करता है। मार्ग दो प्रकार के हैं—उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग। साधुवों का उत्सर्ग मार्ग तो यह हे कि मन, वचन, काय की चेष्टावों की प्रवृत्ति बंद करें। परम उपेक्षा संयम से बर्तना हो, आहार विहार विलास समस्त क्रियाए जहां न रहें, केवल आत्मस्वभाव की उपासना चले यह तो है उत्सर्ग मार्ग। साधुजन इस ही मार्ग का पालन करने के लिए निर्ग्रन्थ होते हैं, किन्तु यह बात बड़ी कठिन है ना, किन्तु आरब्ध योग को यह बात कठिन है। सो जब उत्सर्गमार्ग में नहीं रह पाते हैं और उसे आवश्यकता होती है कि वह आहार करे, विहार करे, तो आहार विहार करता है, यह अपवाद मार्ग। यहाँ अपवादमार्ग का अर्थ खोटा मार्ग न लेना,

गिरा हुआ ऐसा अर्थ न करना, किन्तु सिद्धान्त के अनुकूल शुद्ध विधि से जो चर्या की जाय, विहार किया जाय, यह है साधुवों का अपवाद मार्ग।

सम्यग्दर्शन के अष्टाङ्गों की प्रवृत्ति में उपेक्षासंयम—साधु जनों से पूछो क्या तुम साधु विधि से आहार विहारादि की चर्या करते रहने के लिए ही साधु हुए हो? तो उनका उत्तर क्या होगा? उनका उत्तर होगा कि करना पड़ रहा है, हम उसके लिए साधु नहीं हुए हैं, हम तो उत्सर्गमार्ग में बढ़ने के लिए यों चल रहे हैं। साधुजन इतनी उपेक्षा के परिणाम वाले होते हैं कि वे सम्यग्दर्शन के 8 अंगों का पालन करते हुए भी; शंका न करना, इच्छा न करना, धार्मिकजनों में ग्लानि न करना, कुपथ में मुग्ध न होना, धार्मिकजनों के दोष को दूर करना, धर्मी पुरुषों से प्रेमभाव बढ़ाना, वात्सल्य करना, धर्म से गिरते हुए अपने आपको अथवा अन्य पुरुषों को धर्म में स्थित करना, ज्ञान की प्रभावना करना—इन 8 अंगों का पालन करते हुए भी साधुजनों की अन्तरध्वनि यह है कि हे अष्टांग सम्यग्दर्शन ! मैं तुम्हारा तब तक पालन कर रहा हू जब तक तुम्हारे प्रसाद से प्रवृत्तिरूप तुम अष्टाङ्गों से मुक्त न हो जाऊ।

सम्यग्ज्ञान के अष्टाङ्गों की प्रवृत्ति में उपेक्षासंयम—ज्ञानाचार में साधुजन अष्टांग आचरण करते हैं। शुद्ध शब्द पढ़ना, शुद्ध अर्थ करना, शब्द और अर्थ दोनों की शुद्धि रखना, अपने गुरुजनों का बहुमान करना, अपने को जिससे शिक्षा मिली हो उनका नाम न छिपाना, किसी में ऐब न लगाना आदिक जो 8 प्रकार के ज्ञानाचार हैं उन ज्ञानाचारों का पालन करते हुए भी साधु यह चिंतन कर रहा है कि हे अष्टांग ज्ञानाचार ! मैं तुम्हारा तब तक पालन कर रहा हू जब तक तुम्हारे प्रसाद से मैं मुक्त न हो जाऊ।

चारित्राचार में उपेक्षासंयम—शुद्ध आचरण करके भी साधु चाहता है कि मुझे यह भी आचरण न करना पड़े, और क्या करना पड़े? मैं केवलज्ञानमात्र ज्ञानप्रकाश में स्थिर रहू। वे चारित्र का बहुत-बहुत आचरण करते हैं। समितियों का पालन करना महाव्रतों का पालन करना, गुप्तियों का धारण करना, उसके प्रति भी साधुवों का यह परिणाम है कि हे नाना विधि चारित्राचार ! मैं तब तक तुम्हारा पालन करता हू तब तक मैं तुम्हारा सहारा लेता हू, जब तक तुम्हारे प्रसाद से मैं इनसे मुक्त न हो जाऊ।

ज्ञानी की प्रवृत्ति निवृत्तिप्रयोजिका—देखो भैया ! सम्यग्दृष्टि जीव की प्रवृत्ति निवृत्ति के लिए होती है, यह एक नियम बना लो। चाहे वह चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि हो और चाहे पंचमगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि हो, प्रवृत्ति तो इन तीनों में ही है ना। सप्तगुणस्थान में तो प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ प्रवृत्ति नहीं रही, वह अप्रमत्त विरत साधु है। ये तीनों प्रकार के सम्यग्दृष्टिजन जो कुछ भी प्रवृत्ति करते हैं वह निवृत्ति के लक्ष्य से करते हैं। उनकी प्रवृत्तियां उनके पदों के अनुसार हैं। साधुजन 12 प्रकार के तप भी करते हैं। अनशन, ऊनोदर, व्रत परिसंख्यान, रस परित्याग, बड़े-बड़े काय क्लेश, गरमी में पर्वत के शिखर पर तप करना, शीत काल में नदी के तट पर ध्यान लगाना नाना प्रकार के तप भी करते हैं। अन्तरङ्ग तप भी करते हैं, इस पर भी उन साधुवों की यह तप में प्रवृत्ति उन सब प्रवृत्तियों से निवृत्त होने के लिए है। इतना मंत्र जिस साधु ने पाया उस साधु के तो विडम्बना ही रहती है।

तपस्या की प्रवृत्ति में उपेक्षासंयम—भैया ! अंतस् तत्त्व को टटोलते जाइए। क्या साधु तप के लिए तप कर रहा है? मैं बड़ी गरमी में तपस्या करू, इसके लिए वे तप कर रहे हैं क्या? इसके लिए तप करें अथवा लोग मुझे तपस्वी जानें इसके लिए तप करें अथवा मैंने साधुपद लिया इसलिए ऐसा तप करना चाहिए—ऐसा भाव रखकर तप करे, तो वह सब उद्देश्य

विहीन काम की तरह साधु तपस्या करता है। साधु तप इसलिए करता है कि ऐसे क्रियमाण तप से भी मैं सदा काल के लिए मुक्त हो जाऊ। मुझे कितनी मुक्ति मिली है अभी? मुक्ति मायने छुटकारा। घर से मुक्ति पा ली है। आरम्भ परिग्रह से मुक्ति पा ली है, वस्तु आदिक का धरना उठाना सारे दंदफंदों से मुक्ति पा ली है। अब इन तपस्यावों के कार्यों से भी हे नाथ ! इनसे मुझे मुक्ति लेना है। उस शुद्ध शुद्धज्ञायक स्वरूप निज अंतस्तत्त्व में ही विश्रांत होकर अपने शुद्धस्वरूप को बर्ता करू। ऐसा ही उद्देश्य है साधु पुरुष का।

श्रावक की प्रवृत्ति में भी उपेक्षा की झलक—अब जरा और नीचे चलिए। श्रावक, देशसंयत, पंचम गुणस्थान वाले वे भी जितनी प्रवृत्ति रखते हैं वे उस प्रवृत्ति को करने के लिए प्रवृत्ति नहीं रख रहे हैं, किन्तु इनसे मैं मुक्त हो जाऊ, इसके लिए करते हैं। जिसे फोड़ा हो जाता है पैर में, हाथ में वह उस फोड़े पर मलहम पट्टी लगाता है। उससे पूछो क्या तुम पट्टी लगाने के लिए पट्टी लगा रहे हो अर्थात् मैं रोज ऐसी ही रोटी न रक्खू कि सुबह हो, दोपहर हो और में पट्टी लगाया करू, क्या इस अलसी लगाने के लिए पट्टी लगाने के लिए वह अलसी पट्टी लगा रहा है? नहीं। वह लगाता हुआ यह कह रहा है कि हे अलसी पट्टी ! मैं तुम्हें तब तक सह रहा हू जब तक तुम्हारे प्रसाद से तुमसे मुक्त न हो जाऊ।

निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति—देख लो अनुभव की बात है। किसी को बुखार आ रहा है, वह कड़वी दवा पी रहा है, क्या वह दवा पीने वाला दवा पीते रहने के लिए दवा पी रहा है? नहीं। उसका अन्तर में विचार है कि हे दवा ! में तुम्हें तब तक पी रहा हू जब तक तुम्हारे प्रसाद से तुम मुझसे छूट न जावो। बड़े पुरुषों की बात स्पष्ट समझ में आती है बड़प्पन में आने पर। फोड़ा फंसी की बात, बुखार की बात ये दृष्टान्त जैसे इतना घर कर जाते हैं, ऐसे ही ज्ञानयोग के प्रेमियों के हृदय में यह बात पूरी तरह से उतर जाती है कि साधुजन तप से छूटकारा पाने के लिए तप किया करते हैं।

मुक्तिविधि के मार्ग में—कोई कहे कि भाई मलहम पट्टी से छुटकारा पाने के लिए तुम पट्टी लगाते हो तो अभी से मत लगावो, तो क्या यह बात निभ जायेगी? उस मलहम पट्टी के प्रसाद से ही मलहम पट्टी छूटेगी। यों ही कोई कहे कि तपस्या से छुट्टी पाने के लिए ही तपस्या चाहते हो तो अभी से ही छुट्टी कर दो, तो यह बात नहीं बनेगी। उस चारित्र के प्रसाद से ही, तपश्चरण के प्रसाद से ही उस शुभोपयोग की वृत्ति से छुटकारा मिल पायेगा। मैं यों तो शुद्धोपयोग में रहकर अशुद्ध वृत्ति में रहकर बने रहें तो तप तो छूटा ही हुआ है। पर वह मुक्ति की विधि नहीं है, वह तो संसा रमें रुलते रहने का उपाय है। एक शायर ने कहा है—"गिरते है सहसवार जो मैदाने जंग चढ़े। वे तिफ्ल क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल चलें।।"

साधुपद में उत्सर्ग व अपवाद का योग—साधुजन परम उपेक्षा संयम में रहते हैं। उनके कमण्डल पिछी की जरूरत ही नहीं है। आभ्यंतर उपकरण तो उनके ज्ञान में अन्तरङ्ग में ज्ञानवृत्ति का बना रहा करता है। उपेक्षासंयम न रहने पर अपहृतसंयम में लगना पड़ता है। क्या कमण्डल से ज्ञान निकलता है? क्या पिछी से ज्ञान निकलता है? नहीं निकलता है। उसमें से कोई सिद्धि है क्या? अरे अचेतन पदार्थ हैं। यह ही चीज दुकान में धरी थी। पंख धरे हों उनको विधि से पिछी बना लो। यह कमंडल दुकान में भी बिकता है। इसमें कोई ज्ञान भरा है क्या कि चारित्र भरा है कि श्रद्धा भरी है? क्या भरा है? इसके लेने की धरने की, उठाने की संभालने की संयमी पुरुष को कोई आवश्यकता नहीं है। वह तो शुद्धोपयोग के अनुभव रूपी सुधारस में मग्न है। लेकिन जो आहार विहार न करें, हिलेडुले नहीं अपने ध्यानमग्न में ही रत रहें उन उपेक्षासंयमियों की बात कही जा रही है। जैसे बाहुबलि का दृष्टांत है। ऐसा बन सके कोई तो क्या जरूरत है पिछी और

कमण्डल की? किन्तु जब साधु उपेक्षासंयम में रह नहीं सकता, जब उसे आहार विहार करना पड़ेगा तो वहाँ आज्ञा नहीं है कि तुम पिछी कमंडल के बिना आहार विहार करो।

दीक्षाविधि में उपकरण की आवश्यकता—यदि कोई साधु संयम के उपकरण के बिना आहार विहार करेगा तो वह पाप करता है, धर्म के विरुद्ध चलता है। आदाननिक्षेपणसमिति में परमार्थ से तो आत्मा अपने ज्ञानप्रकाश का आदान कर रहा है और अपने विकारभाव का परिहार कर रहा है, और अपहृतसंयमी साधुजन समितिपूर्वक अपने ज्ञान संयम शौच के उपकरणों के विधि सहित धारण करता है, उठाता है, रखता है, यह है उसकी व्यवहारईर्यासमिति। यह भी बात ध्यान में लेना चाहिए। जब भी कोई पुरुष साधु होता है तो साधु होते समय इन उपकरणों को ग्रहण करता है। कोई पहिले से ही यह सोच ले कि मुझे तो उपेक्षासंयमी बनना है। मैं क्यों पिछी कमण्डल लू, हो जाय निर्ग्रन्थ, ऐसा ही बस खड़ा रहूगा, ऐसी आज्ञा नहीं है। क्या दावा है कि वह उपेक्षासंयमी बना रहेगा? दीक्षा लेते समय इन उपकरणों को ग्रहण करना आवश्यक है। इसके बाद उपेक्षासंयम हो जाय, न रहें ये उपकरण, कोई उठा ले जाय तो फिर आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

उपेक्षासंयमी परमयोगियों का उपकरण—उपेक्षासंयमी साधुपुरुष पुस्तक कमण्डल आदि के परिग्रह से दूर रहते हैं, इसी कारण वे परम जिन मुनि एकांत से निष्पृह हैं, पूर्ण इच्छारहित हैं, इस कारण वे बाह्य उपकरणों से भी दूर हैं। वे बाह्य उपकरणों से निर्मुक्त हैं। उपेक्षासंयमी पुरुष के समीप ये उपकरण रखे हुए हों तो भी वे उनसे निर्मुक्त हैं। यदि न रखे हों तो बाहर से भी निर्मुक्त हैं और अन्तर से भी निर्मुक्त हैं। उनके तो परमार्थ उपकरण है। उपाधिरहित सहज चैतन्यस्वरूप का सहजज्ञान। उपेक्षासंयमी परमयोगीश्वर निज के ज्ञानभाव द्वारा अपने ज्ञानस्वभाव में ही सदा संतुष्ट रहा करते हैं। उनके उपकरण हैं अभिन्न। आत्मा से भिन्न और उसमें भी अचेतन, ये बाह्य उपकरण उपेक्षासंयम के उपकरण नहीं हैं। उनके तो एक सहज ज्ञान भाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी उपादेय नहीं हैं।

अपहृतसंयमी योगियों के उपकरण—अपहृतसंयम वाले साधुसंतों को आवश्यकता है परमागम के अर्थ का बार-बार प्रत्यभिज्ञान करने की। इस परमागम के अर्थ की बार-बार प्रत्यभिज्ञान करने के लिए उपकरण चाहिए, वह उपकरण है शास्त्र, पुस्तक। शस्त्र को ज्ञान का उपकरण बताया गया है। चूकि यह जीवन आहार बिना नहीं टिक सकता, अत: आहार करना आवश्यक है, सो वे ऐषणासमिति पूर्वक आहार किया करते हैं। पर आहार करने के परिणाम में तो उन्हें मलमूत्र भी होगा ना, तो मलमूत्र करने की अशुचि को दूर करने के लिए शौच का उपकरण भी रखते हैं। वह शौच का उपकरण हुआ कमण्डल, जो शरीर की विशुद्धि का उपकरण है। इन दो उपकरणों के अतिरिक्त तीसरा उपकरण जो अत्यन्त आवश्यक है। कदाचित् साधु पुस्तक और कमण्डल के बिना भी रह सकता है, चल सकता है, विहार कर सकता है किन्तु तृतीय उपकरण जो संयम का उपकरण कहलाता है उस पिछी के बिना विहार नहीं कर सकता। यों तृतीय उपकरण है पिच्छिका। ये तीन बाह्य उपकरण हैं।

साधु का ज्ञानोपकरण—साधु संत ज्ञान का उपकरण शास्त्र को रखते तो हैं पास, किन्तु शास्त्र में उनकी ममत्त्व बुद्धि नहीं होती है। कदाचित् शास्त्र में ममत्त्व बुद्धि हो जाय, जैसे कि साधारण जनों को गृहस्थ के साधनों के संचय में रखने में ममत्त्व बुद्धि होती है, अथवा एक ही रक्खें और ऐसा ख्याल आये कि यह मेरा ग्रन्थ है। न मिले वह ग्रन्थ तो कहो विवाद कर डालें, यदि ऐसा परिणाम हो गया तो वह शास्त्र साधु का उपकरण नहीं रहा। साधुवों का शास्त्र उपकरण तब तक है जब तक निर्भयता है। कोई पुरुष यदि किसी साधु के शास्त्र को चाहे कि लेकर पढ़ लें कहे कि महाराज यह तो बड़ी

उत्तम चीज है, क्या यह शास्त्र हमें मिल सकता है? तो साधु उसके त्याग करने में देर न करेगा, हाँ हाँ तुम ले जावो और यदि साधु अपने अन्तर में ऐसा अनुभव करे कि ओह यह शास्त्र मेरा है, मेरा काम कैसे चलेगा, ऐसा परिणाम आये तो फिर वह शास्त्र उसका उपकरण नहीं रहा। हम आपको तो किसी चीज के जाने में शोक का अनुभव होता है कि हाय मेरी चीज गयी, पर उनको आनन्द का अनुभव होता है क्योंकि उनकी दृष्टि शीघ्र ही सहज ज्ञानस्वभाव में लग जाती है जिसको निरखने के लिए स्वाध्याय का श्रम किया गया है, ऐसे साधुसंतों के पास जो ज्ञान का उपकरण है शास्त्र, वह ज्ञान का उपकरण रहता है।

साधु का शौचोपकरण—इस ही तरह शौच का उपकरण है कमण्डल। कमण्डल में ममत्व हो जाय। कमण्डल को बड़ा चिकना चमकीला बढ़िया ढंग में रखा जाय, उसको उठाने, धरने, निरखने में बड़ी मौजसी माने तो फिर वह कमण्डल उपकरण न रहेगा। अब तो वह ममता का साधन बन गया है। साधुसंतों के पास कदाचित् कमण्डल भी न रहे, जंगल में हैं और उनको कमण्डल नहीं मिला तो किसी समय टूटा फूटा डबला कोई मिट्टी का कहीं पड़ा हो तो उसे उठाकर भदभदा से पानी गिर रहा हो तो पानी लेकर वे अपनी शौच क्रिया कर सकते हैं। उनको ममत्व नहीं है। कभी न मिले इस तरह का कमण्डल तो तूमा भी जंगल में पड़ा हो, जिसका कोई स्वामी नहीं है, वहाँ ही खोखला पड़ा हुआ हैं, ऐसे टूटे फूटे स्वामी रहित मिट्टी के तूमें के बर्तन को भी अस्थायी रूप से उपयोग कर सकते हैं। वस्तु ऐसी निकट न रहनी चाहिए जिस वस्तु को असंयमीजन भी उठाना चाहें याने ख्याल करें कि मुझे मिल जाती तो अच्छा था। असंयमीजन जिस चीज को चाह सकते हैं वह वस्तु उनके एक परिग्रह में शामिल होती है।

शौचोपकरण का उपयोग—साधुजन इस शौच के उपकरण कमण्डल से क्या उपयोग करते हैं कि जब शास्त्र पढ़ने बैठते हैं तो थोड़ा हाथ पैर धो लेते हैं, चर्या के लिए जायें तो घुटने तक हाथ पैर धो लेते हैं और ऊपर मस्तक धो लेते हैं। इतनी शुद्धि करके वे चर्या को निकलते हैं अथवा कोई चाण्डाल हत्यारा छू जाय तो उस काल में वे खड़े-खड़े कमण्डल की टोंटी से एक धार निकालकर स्नान कर लेते हैं और अन्य समयों में किसी और प्रकार का स्नान नहीं बताया गया हैं। साधुवों का शरीर स्वयं पवित्र होता है क्योंकि उसमें रत्नत्रय का उदय, प्रकाश इतना दृढ़ है, गहरा है, चमकीला है कि जिसके कारण शरीर की इस अपवित्रता पर भक्तजनों का ख्याल भी नहीं पहुंचता और भक्त अपवित्र नहीं मानता है। तो रत्नत्रय से पवित्र साधुवों का शरीर साधारण शुचि के लायक रहता है। गृहस्थजनों की तरह नहाने की उन्हें आवश्यकता नहीं होती है। इतनी शुद्धि के प्रयोजन के लिए उनका यह उपकरण होता है।

साधु का संयमोपकरण—संयम का उपकरण है पिच्छिका। पिच्छिका मयूर के पंख की होती है। ये पंख इतने कोमल होते हैं कि जिनसे किसी भी जीव को बाधा नहीं पहुंच सकती। कदाचित् किसी की आँख में भी लग जाय तो उससे कोई बाधा नहीं पहुंचती। अब आप बतलावो कि मयूर पंख को छोड़कर इतना कोमल अन्य क्या पदार्थ है प्रथम तो आपको कुछ अन्य विदित न होगा कि मयूर पंख के मुकाबले कोई पदार्थ इतना कोमल और इतना गुणवान् है। कदाचित् मिल भी जाय बनावट करके यह भी साथ देखिये कि इतना सुलभ लब्ध और कुछ नहीं है। साधुजन जंगल में तप किया करते हैं, रहते हैं। उन्हें पंखों की आवश्यकता हुई तो वैसे डेरों मयूरों के छोड़े हुए पंख पड़े रहते हैं। 20, 50 पंखों को उठा लिया, बस उन्हीं से ही पिच्छिका बन जाती है। हजार पाँच सौ पंखों का ढेर करके पिच्छिका बनायी जाय तो उससे

तो वज़न के कारण कुन्थु जीवों को बाधा सम्भव है। उसमें फिर कोमलता नहीं रहती है। ऐसे संयमों का उपकरण पिच्छिका है।

आदाननिक्षेपणसमिति की श्रेष्ठता—ये अपहृतसंयम के लिए तीन बाह्य उपकरण बताये गये हैं। इनको ग्रहण करने में और इनके रखते समय में उत्पन्न होने वाला जो सावधानी के प्रयत्न का परिणाम है उसे आदाननिक्षेपणसमिति कहा करते हैं। आदान का अर्थ है ग्रहण करना, निक्षेपण का अर्थ है धरना और उसमें जो सावधानी है उसे कहते हैं आदाननिक्षेपणसमिति। समितियां सब आवश्यक और उत्तम हैं। फिर भी उनमें यत्न करके प्रयोजनवश देखा जाय तो यह आदाननिक्षेपणसमिति उन सब समितियों में श्रेष्ठ है, रानी है, शोभा देने वाली है। इन समितियों के संग से क्षमा और मैत्रीभाव उत्पन्न होता है।

साधुमुद्रा में निर्भयता व विश्वास का स्थान—अन्य वेशभूषा के साधुवों को देखकर लोगों को भय हो जाता है, कोई जटा रखाये हो, कोई भभूत रमाये हो, कोई चीमटा लिए हो, किसी के हाथ में डंडा हो, किसी के हाथ में त्रिशूल हो, कोई जगह-जगह सिंदूर लगाये हो, किसी ने मोटी रस्सी कमर में बाँध ली हो, ऐसा रूप देखकर लोगों को भय भी हो सकता है और अविश्वास भी हो सकता है। कहीं लड़ाई न हो जाय तो बाबा जी डंडा मार दें, कहीं लड़ाई हो जाने पर त्रिशूल न भोंक दें, ऐसा अविश्वास हो जाता है। परन्तु धन्य है उन साधुसंतों की मुद्रा को कि जिनके समीप बैठने में न भय है और न किसी प्रकार का अविश्वास है। जिनका नग्न स्वरूप है, वे किसी की क्या कोई चीज चुरा सकते हैं। चुरायेंगे तो कहां रक्खेंगे। उनके पास कोई शस्त्र नहीं है, उनसे क्या भय हो सकता है? अरे जो कीड़ा-मकोड़ा आदि प्राणियों की रक्षा के लिए पिछी रखते हैं उनके परिणाम में क्या कभी यह आ सकता है कि हम इन्हें मार पीट दें? यदि वे कभी मारें पीटें और मारें पीटें ही क्या थोड़ा गाली गलौज भी दें, दूसरों को श्राप दें तो वह साधु नहीं हैं।

अन्तःसाधुता बिना विडम्बना—एक पौराणिक घटना है कि एक नदी के तीर पर एक साधु एक शिला पर बैठकर रोज ध्यान लगाया करता था। एक बार आहार करने शहर गया, इतने में एक धोबी आया और उस पत्थर पर अपने कपड़े धोने लगा। इतने में आहार करके साधु वापिस आ गया। तो साधु महाराज कहते हैं कि इस पत्थर पर तुम कपड़े धोने क्यों आये? यह तो मेरे ध्यान करने का आसन है। धोबी कहता है—महाराज यह बहुत अच्छा पत्थर है मेरे कपड़े धोने का, कृपा करके थोड़े समय को आप ध्यान और जगह पर कर लीजिए। ऐसा पत्थर आसपास कहीं नहीं है। साधु बोला—हम तो इसी पर ध्यान लगायेंगे। तुम इससे हट जावो। तो धोबी बोला कि हम तो न हटेंगे। इससे सुविधाजनक और पत्थर यहाँ नहीं है। साधु जी थोड़ा गरम हो गये और थोड़ी हाथापाई कर बैठे। धोबी ने भी जरा हिम्मत बनाकर साधु से हाथापाई शुरू कर दी। दोनों में कुश्ती सी हो गयी। धोबी पहने था तहमद, सो उसका तहमद छूट गया, नंगा हो गया। अब दोनों में बड़ी विकट लड़ाई हुई। साधु गुस्से में आकर कहता है—अरे देवतावों ! तुम लोगों को खबर नहीं हैं कि साधु पर कितना बड़ा उपद्रव आ रहा है? तो ऊपर से आवाज आती है कि हम तो खड़े हैं उपद्रव दूर करने के लिए, पर हमें यह नहीं मालूम पड़ रहा है कि तुम दोनों में से साधु कौन है, और धोबी कौन हैं? तुम दोनों की एकसी मुद्रा है, एकसी गाली गलौज, एकसी मारपीट। हम कैसे पहिचानें कि साधु कौन है और धोबी कौन हैं?

पिच्छिका से अन्य भी अनेक लाभ—यह पिच्छिका केवल जीवरक्षा के काम में आये, इतना ही नहीं है किन्तु यह बहुत सी सावधानियों को याद दिलाने वाली चीज है। जैसे किसी से कहो कि तुम बम्बई जा रहे हो तो हमें अमुक चीज ले

आना। तो वह कहता है कि हमें खबर न रहेगी। तब कहा जाता है कि तुम अपनी कमीज में गांठ बाँध लो, जब भी उठो बैठोगे तब खबर रहेगी कि अमुक चीज लानी है। यह पिच्छिका तो समस्त संयम व समस्त साधनावों के व्यवहार को याद दिलाने वाली है। और भी देखो—अन्य समितियों का टाइम जुदा-जुदा होता है किन्तु आदाननिक्षेपणसमिति का टाइम सदा रहा करता है। सो रहा है तो वहाँ पर भी, यदि करवट बदलता है तो पथरा पर, जमीन पर तो वह पिच्छिका से साफ कर करवट बदलेगा। बैठे ही बैठे कदाचित् आँख पर जीव आये अथवा किसी जगह कोई जीव काट रहा है तो प्रथम तो यह कर्तव्य है कि उस ओर ध्यान ही न जाय। काटता है काटने दो, उसे मत भगावो। नहीं तो पिच्छिका से ही उसके शरीर का सावधानी सहित प्रमार्जन करो। पिच्छिका का उपयोग निरन्तर रहा करता है। इस कारण आदाननिक्षेपणसमिति का महत्त्व इन सब समितियों में अधिक है। इस समय इस प्रकरण में श्रेष्ठता बताते हुए कहा जा रहा है कि इस समिति की सर्व समितियों से उत्तम शोभा है।

साधुमुद्रा का श्रेय—भैया ! साधु की यथार्थ मुद्रा से लोगों को बड़ा विश्वास उत्पन्न होता है। हनुमान जी की माता अंजना जिस समय हनुमान गर्भ में थे तब सामने अंजना को निकाल दिया था यह कहकर कि यह गर्भ कहां से आया, मेरा पुत्र तो तेरी शकल भी नहीं देखना चाहता था, उसे दोष लगाकर निकाल दिया। जब पाप का उदय आता है तब कोई सहाय नहीं होता है। सबसे बड़ा पाप का उदय यह है कि उसे असदाचार का दोष लगाया गया। वह अञ्जना माता पिता के नगर में पहुंची। माता पिता ने भी उसे सहारा न दिया। अंत में वह स्त्री जंगल में भटकती हुई जा रही थी। बड़े उपद्रव व उपसर्ग सह रही थी। अचानक ही जंगल में एक मुनिराज के दर्शन हुए। उनके दर्शन पाकर अंजना को इतना धैर्य जगा, विश्वास लगा, जैसे मानों मां बाप ही मिल गए हों। साधुसंतों का सत्य सहज विश्वास हो जाया करता है। उन मुनिराज के समीप ही धर्मध्यान पूर्वक रहने लगी। पर मुनिराज वहाँ कहां रहने वाले थे। थोड़े ही समय बाद विहार कर गये। फिर अंजना का उदय अच्छा था, पुण्यात्मा पुरुष गर्भ में था, मोक्षगामी पुरुष अंजना के उदर में था। भले ही संकट खूब आये, पर सब टलते गये। साधुसंतों का इतना विश्वास होता है श्रावक जनों को।

नग्नमुद्रा में निर्विकारता का दर्शन—कुछ लोग उनकी नग्नमुद्रा को देखकर अटपट कल्पनाए करके उनसे लाभ प्राप्त करने से दूर रहा करते हैं। कोई कहते हैं कि यह नग्न है, ऐसा न रहना चाहिए। अरे जरा उनके अन्तर के परिणामों को तो देखो—साधु का अंतरङ्ग परिणाम बालकवत् है। जैसे बच्चे को कुछ पता नहीं है काम का, अन्य तरह की विडम्बनावों का, जैसे वह बच्चा निर्विकार है ऐसे ही वह साधु पुरुष निष्काम, निर्विकार अत्यन्त स्वच्छ है। नग्नता का रूप रख लेना साधारण बात नहीं है, उद्दण्ड होकर कोई नंगा हो जाय, इसकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु नग्न होकर भी रंचमात्र भी विकार न आये और कल्पना तक भी न जगे, ऐसी मुद्रा का प्राप्त होना इस लोक में अति दुर्लभ है और साथ ही अपने ज्ञानभाव द्वारा अपने सहजज्ञानस्वरूप में निरत रह सके, ऐसी स्थिति पाना बहुत ही सुन्दर भवितव्य की बात है।

साधुवों की उपासनीयता—शांत निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्राधारी मात्र पिछी और कमण्डल ही जिनके हाथ में शोभित हो रहा है ऐसे साधु संतों को देखकर न कोई बालक डरता है, न कोई जवान डर सकता है, न कोई स्त्री भी डर सकती है, न कोई वृद्ध डर सकता है, न कोई अपरिचित पुरुष ही भय खायेगा। हाँ कदाचित् कोई पुरुष भय खा जाय, समझ लो जैसे बालक डर जाते हैं तो समझा कि अन्य भेषी साधुवों का पहिले डर खाया हुआ है, इसलिए उनको देखकर डर लगता है। ऐसे परम विश्वास्य साधु संतों के गुणों को हे भव्य जीव ! अपने हृदय रूप कमल में धारण करो, उन साधुवों के सर्व

गुणों में प्रीति रखने से मुक्ति लक्ष्मी प्राप्त होगी, ज्ञान का साम्राज्य मिलेगा। इसलिए सर्व प्रकार के यत्न करके तुम अपने आपको देव, शास्त्र, गुरु को उपासना में लगावो। अन्य किसी से अपना हित मत मानों। ये मुनिराज आदाननिक्षेपणसमिति का निश्चयरूप से और व्यवहाररूप से पालन किया करते हैं। निश्चय से तो सहजज्ञान का उपकरण रखकर समिति का पालन करते हैं और व्यवहार में ये तीन उपकरण रखकर इनके धरने उठाने की समिति का पालन करते हैं।

गाथा 65

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिये परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स।।65।।

प्रतिष्ठापना समिति—जहां दूसरे की रुकावट न हो, ऐसे और गूढ़, सब लोगों का जहां आवागमन नहीं, उठना बैठना नहीं है ऐसे प्रासुक भूमि के स्थल में मलमूत्र आदि का त्याग करना, इसको प्रतिष्ठापना समिति कहते हैं। सारे विसंवाद अपने को करने पड़ते हैं भोजन के पीछे, कल्पना करो कि एक भोजन का काम अथवा व्यय श्रम न होता तो कहीं दूसरे पदार्थों की जरूरत न थी, और दूसरों से कुछ बोलने चालने की आवश्यकता न थी। कुछ चीज धरना, उठाना, खटपट करना आदि बातों की आवश्यकता न थी और मल मूत्र करने की भी नौबत न आती। खैर, साधारणजनों को तो भोजन की भी चिंता न रहे तो भी वे सारी खटपट किया करते हैं। देवों को क्या चिंता लगी है? मनुष्य से भी अधिक खटपट देवों के हुआ करती है? देवगति के जीव कितना तो घूमते हैं, विहार करते हैं, वचनालाप करते हैं और कैसी कलावों की प्रवृत्ति करते हैं, और साधुजन आहार करके भी खटपट से दूर रहा करते हैं, फिर भी चूकि जब आहार करते हैं, किया है तो चलना भी होगा, वचन व्यवहार भी कुछ हद तक करना व्यवहारिक बात है। चीज का धरना उठाना भी आवश्यक है, और आहर किया तो मलमूत्र भी करना आवश्यक हो जाता है। तो जब वे मलमूत्र करें, थूकें, नाक छिनके अथवा शरीर का पसीना भी पोंछकर चलें, इन सब क्रियावों में वे ऐसी भूमि तकते हैं जो भूमि प्रासुक हो, जहां जीव जंतुवों को बाधा न हो। ऐसी सावधानी सहित प्रतिष्ठापना को प्रतिष्ठापना समिति कहते हैं।

देह और आत्मा की विक्तिता—यद्यपि निश्चयनय से देखा जाय तो जीव के शरीर ही नहीं है। फिर आहार ग्रहण की परिस्थिति कहां से हो? जो लोग कहते हैं कि मैं आत्मा तो खाता ही नहीं हू, उनकी बात सही है मगर किस जगह खड़े होकर यह बात बोलनी चाहिए? यह उसकी विशेषता है। जिसको स्वभावदृष्टि बन गयी है और ज्ञायकस्वभावमात्र की अपने आपको पहिचान हुई है उसके यह बात है कि यह मैं आत्मा तो खाता ही नहीं हू, किन्तु जो विडम्बनाए तो पचासों करता हो, लड़ाई झगड़े विवाद अनेक मचाता हो और गोष्ठी में बैठकर ऐसी बातें मारे कि मैं तो खाता ही नहीं हू, उसकी बात को कोई मूल्य नहीं है। शुद्ध निश्चय की दृष्टि से जीव जुदा है , देह जुदा है। दोनों भिन्न पदार्थ हैं। देह तो पुद्गल जाति है और शरीर चेतन जाति का है। इन दोनों में एकता कैसी? शरीर तो जड़ है यह जीव जाननहार है, इन दोनों की एकता कैसी? अरे जो जड़-जड़ है ऐसे पुद्गल परमाणु परमाणुवों में भी एकता नहीं होती। प्रत्येक परमाणु अपने स्वरूप से सत् है परस्वरूप से असत् है। अपने आपके परमाणु का सर्वस्व अपने आपमें है। तब एक अणु का दूसरा अणु भी कुछ नहीं है, वे एक नहीं हो सकते, अनेक हैं। स्कंध जैसी बंधन अवस्था भी हो जाय तो भी प्रत्येक परमाणु एक-एक ही पृथक्-पृथक् हैं। फिर भिन्न जाति के जो जीव और देह हैं इनमें एकता कैसे?

आत्मा का ज्ञानज्योतिस्वरूप—निश्चय की दृष्टि से तो जीव के यह दशा भी नहीं है। जो जीव देह में आत्मीयता की कल्पना करता है अथवा 'यह मैं हू' ऐसा मायारूप विचार बनाता है उस देही को 'यह मैं हू' ऐसा मानने पर सारी विपदाए लद जाती है। सब संकटों का मूल 'इस देह में यह मैं हू' ऐसा श्रद्धान् करना है। यही महा मूढ़ता है। इस मूढ़ता के रहते हुए हम विपत्तियों से, संकटों से बचने और सुख पाने की कोशिश करें तो वे सारी कोशिशें व्यर्थ हैं। यदि वास्तव में शांति की इच्छा है तो यह यत्न अवश्य करो कि मैं देह से न्यारा ज्ञानमात्र हू। इसको तो कोई पहिचानने वाला भी नहीं है। इससे तो कोई बात भी नहीं किया करता है। लोग जिसे देखते है वह मैं नहीं हू। मैं तो सबसे अपरिचित ज्ञानज्योतिमात्र हू। यहाँ मेरा यश क्या और अपयश क्या? यश भी कुछ और नहीं है। मायामय वे पुरुष हैं और वे अपने विषय-कषायों के अनुसार अपनी प्रवृत्ति कर रहे हैं, वे अपनी प्रवृत्ति में मेरे गुण बखान रहे हैं, पर यह यश क्या है? उन मायामय पुरुषों का एक प्रवर्तन है। यश क्या चीज है? कुछ भी नहीं है। जब यश कुछ नहीं है तब अपयश भी कुछ नहीं है। सबसे बड़ा साहस ज्ञानी जीव के यह होता है कि कोई यश करे अथवा अपयश करे उनसे उसके चित्त में कोई परिवर्तन नहीं होता। या तो मैं ही चिग जाऊँ तो पतनरूप परिवर्तन है और अपने आपमें लग जाऊँ तो उत्कर्षरूप परिवर्तन है। मेरे परिवर्तन करने में बाहर का अणुमात्र भी कोई समर्थ नहीं है।

निश्चय और व्यवहार से अपना अवलोकन—इस जीव के देह नहीं है। जब देह ही नहीं है, यह अमूर्त है, आकाशवत् निर्लेप है, ज्ञानानन्दभाव मात्र है, तो अन्न का स्पर्श कैसे हो? अन्न को ग्रहण कौन करे? इस जीव के अन्न को ग्रहण करने की परिणति भी नहीं है। फिर हो क्या रहा है यह सब कुछ। देह व्यवहार से है। व्यवहार का अर्थ यहाँ "असत्य" नहीं है किन्तु दो विजातीय द्रव्यों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से होने वाली घटना में यह देह बन जाया करता है। जहां किसी भी वस्तु में बात न पायी जाय और अन्य वस्तु के सम्बन्ध से कोई बात बने, उसको व्यवहार कहते हैं। अपने आप सहज अपने स्वरूप से अपने स्वभाव से तत्त्व पाया जाय उसको निश्चय कहते हैं, परमार्थ कहते हैं।

व्यावहारिक संग—जैसे कोई पुरुष कहे कि यह मेरा लड़का है अथवा स्त्री कहे कि यह मेरा लड़का है ऐसे पर को लड़का बताना निश्चय की बात है या व्यवहार की बात है? यहाँ बहुत भीतरी निश्चय की बात नहीं पूंछ रहे हैं, किन्तु यह स्थूल निश्चय की बात कह रहे हैं। यदि किसी भी एक का हो सके तो प्रासंगिक निश्चय से वह उसका है। केवल पुरुष का लड़का बन जाय तो पुरुष का हो गया, केवल स्त्री से लड़का बन जाय तो स्त्री का हो गया। जैसे केवल पुरुष में अथवा स्त्री में पुत्र प्रसव की बात नहीं है तो इस ही प्रकार जितना दंदफंद है देह हैं, कषायें हैं, विरोधभाव हैं ये सब न केवल जीव से प्रसूत होते हैं और न पुद्गल से प्रसूत होते हैं। जैसे पुत्र के उत्पन्न होने में माता पिता दोनों कारण पड़ते हैं, ऐसे ही विभावों में निज और कोई पर—ये दोनों कारण पड़ते हैं। यद्यपि ये रागादिक भाव जीव और पुद्गल दोनों कारणों से होता है, फिर भी रागादिक का आधार जीव है और बाहरी निमित्त पुद्गल हैं। इसी प्रकार यह जीव समास है देह की रचना है। यह काय भी यद्यपि जीव और पुद्गल दोनों कारणों से है, फिर भी इनका आधार पुद्गल है और बाहरी निमित्त जीव हैं। यों व्यवहार से यह देह है। व्यवहार से देह है तो व्यवहार से ही आहार का ग्रहण है।

व्यवहार की अशाश्वतता का व औपाधिकता—यहाँ यह नहीं जानना कि व्यवहार से ही आहार का ग्रहण है तो रहे। वास्तव में तो मेरा कुछ नहीं है ना। व्यवहार से ही पाप बनते हैं, व्यवहार से ही पुण्य बनता है—ऐसा सुनकर कोई कहे कि व्यवहार से पाप बंध हैं तो बंधे, असल में तो नहीं बंधते। वास्तव में तो नहीं बंधते, ठीक है मगर व्यवहार से तो पाप

बंध हैं, तो उसके ही फल में व्यवहार से जो नरकादिक दुर्गतियां रहती हैं उनमें गम खावोगे क्या? नहीं गम खावोगे। तो जिन्हें व्यवहार की दुर्गति पसंद न हो उस व्यवहार का पाप भी न करना चाहिए। यहाँ निश्चय तो केवल एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का नाम है। स्वभाव में स्वरूप में विकार नहीं हुआ करता है। यदि वस्तु के स्वभाव में विकार हो जाय तो वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। व्यवहार से ही यह देह है और व्यवहार से ही आहार ग्रहण है।

अयोग्य स्थान पर प्रतिष्ठापना का कारण निर्दयता—जब आहार ग्रहण होता है तो मलमूत्रादिक भी हुआ करते है। तो मलमूत्रादिक की स्थिति में उन्हें ऐसी जगह मलमूत्र क्षेपण करना चाहिए जहां कोई जंतु न हो। अब बतावो साधु तो नग्न हैं, उनकी कौनसी बात छिपी हुई है फिर भी मलमूत्र करने जाते हैं छिपे स्थान पर, इसमें भी अनेक तत्त्व भरे हैं। व्यवहार की बात है, तीर्थ की प्रवृत्ति है। जहां रुकावट हो, मना हो वहाँ मलमूत्र क्षेपण न करना चाहिए। जहां लोगों का आवागमन हो वहाँ मलमूत्र क्षेपण न करे। यदि कोई दूसरों के आने जाने के स्थान पर मलमूत्र करता है तो उसे निर्दय कहा जाता है, दयाहीन कहा जाता है। जैसे आज कल के बहुत से अहंभन्य किन्हीं आश्रमों में रहते हैं वहाँ यह दृश्य बहुत मिलेगा। बरसात के दिन हैं, आसपास थोड़ी घास खड़ी है, रास्ते में कुछ नहीं है। प्रासुक है, कोई देख नहीं रहा है तो रास्ते में ही मलमूत्र कर देंगे। आप यह सोचिये कि उनकी दृष्टि है कि मैंने संयम पाला, घास पर मैंने पैर नहीं रक्खा, पर यहाँ दृष्टि उनकी नहीं गयी कि यहाँ मनुष्य आते जाते हैं, देख कर नाक सिकोड़ेंगे, रास्ता छोड़कर अलग से जायेंगे, उन्हें कितना कष्ट होगा? इस बात का उन्हें विवेक नहीं रहा।

अटपट त्याग और अटपट हृदय—जैसे बहुत से श्रावकों के त्याग के क्रम का विवेक नहीं होता है। कोई पूछे कहां जा रहे हो? शिखर जी। वहाँ क्या करोगे? हम तो शिखर जी जाकर आलू का त्याग करेंगे। अरे तुमने गोभी का त्याग किया कि नहीं? उसका तो नहीं त्याग किया, बाजार की सड़ी बासी जलेबियां अथवा बाजार का बहुत दिनों का पिसा हुआ मैदा जिसमें लट पड़ जाती हैं उसका त्याग किया कि नहीं? उसका त्याग तो नहीं किया। अरे उनका त्याग नहीं किया और आलू का त्याग करने जा रहे हो, अरे जिन चीजों में मांसभक्षण का दोष लगता है ऐसी चीजों पर दृष्टि नहीं जाती है और आलू पर दृष्टि गई। यद्यपि आलू का त्याग करना भी ठीक है, अनन्तकायों का उसमें बचाव हो जाता है लेकिन एक भी त्रस जीव की हिंसा हो तो वह बहुत बड़ी हिंसा हो गयी, इसकी ओर ध्यान क्यों नहीं है, यों ही अपने स्वार्थ में अपने कल्पित संयम में तो दृष्टि जगे और दूसरे मनुष्यों को बाधाए आयें, इस ओर ख्याल न हो तो बतावो ऐसे अटपट हृदय में कैसे धर्म का अभ्युदय होगा?

रात्रि में प्रतिष्ठापना की विधि—साधुजन शाम के समय मलमूत्र क्षेपण को तीन जगह स्थान देख लिया करते हैं कि रात्रि को कहीं मूत्रक्षेपण करना होगा तो कहा करेंगे? यह उनकी एक ड्यूटी हैं, जो जगह शाम को पास की, देख लिया, निर्जन्तु हो उसकी जगह रात्रि को लघुशंका करने जायेंगे। तब प्रथम तो उस जमीन पर अपना उल्टा हाथ रखेंगे कोमल ढंग से ताकि यह विदित हो जाय कि यहाँ कोई जंतु नहीं है। यदि उस जगह कोई जंतु है तो वहाँ से हटकर दूसरी जगह चले जायेंगे। दूसरी जगह भी हथेली से उल्टा हाथ करके देख लेंगे कि यहाँ भी जंतु तो नहीं है। उल्टा हाथ जमीन पर कोमलता से रखा जाता है और सीधा कुछ दृढ़ता से रखा जाता है, साथ ही हाथ की गादी से जीव का परिचय जल्दी नहीं होता। हाथ के ऊपरी भाग से जीव के चलने का जल्दी परिचय हो जाता है। दूसरे स्थान पर भी यदि जीव हों तो तीसरे स्थान पर जाते हैं। आप यहाँ यह शंका कर डालेंगे कि तीसरे स्थान पर भी जीव हों तो? पहिली तो यह बात है

कि पहिले स्थान पर भी जंतु न हों। जब सायं को भली भांति देख लिया, छिद्ररहित स्थान को देख लिया तो पहिले ही स्थान में सम्भव है कि जंतु न हों। और यदि वहाँ जंतु हो तो शायद दूसरी जगह न हों। और कदाचित् आपकी भी बात मानें कि तीसरी जगह भी जंतु हो तो अब जो कुछ बने सो हो जायेगा, मूत्र तो रोका नहीं जाता। उसमें भी जहां जगह उचित समझी, वहाँ मूत्रक्षेपण कर लिया, उसका विशेष प्रायश्चित्त साधु कर लेंगे।

न्याय और दया की मूर्ति—साधु का स्वरूप एक दया की मूर्ति है, क्षमा की मूर्ति है, आत्मकल्याण की मूर्ति है। वे कीट मात्र को भी बाधा पहुंचाने का चित्त में आशय नहीं रखते। ऐसे साधु संतजन आहार ग्रहण करने के परिणाम में जब उन्हें मलमूत्र क्षेपण की घटना होती है तो ऐसे प्रासुक जंतु रहित गूढ़ लोगों के आवागमन रहित जहां किसी की मनाही न हो, ऐसे स्थान पर वे मलमूत्र क्षेपण करते हैं। कोई साधु बड़ी अच्छी साफ जगह पर मूत्र क्षेपण कर आये और कोई सिपाही रोके कि यह तो रास्ता है क्यों यहाँ लघुशंका कर दी? साधु जवाब दे कि मैं साधु हू, मैं प्रतिष्ठापनासमिति करने आया हू। तुम्हें दिखता नहीं है। तो कहो वह दो एक चांटे भी रसीद करे। उसकी प्रतिष्ठापनासमिति नहीं सुनेगा। खैर, जो कुछ हो, मगर जहां दूसरे के स्थान पर रुकावट हो, ऐसे स्थान पर प्रतिष्ठापना न करना चाहिए।

कमण्डल का उपयोग—ये साधुसंत जन जैसे कि आदाननिक्षेपण समिति में बताया है शौच का उपकरण कमण्डल रखते हैं, उनके कमण्डल का उपयोग मलमूत्र करके कायशुद्धि करने में ही होता है। कमण्डलु किसे कहते हैं। कमण्डलु शब्द में तीन भाग हैं। क मंड अलुच्। क तो शब्द है मंड धातु है और अलुच् प्रत्यय है। क का अर्थ है जल, मंड का अर्थ है शोभा करना, कहते हैं ना मंडन करना, शरीर की शोभा करना तो जल जिसमें सुशोभित हो, उसका नाम है कमण्डलु। लगता भी अच्छा है ना, कमण्डल में पानी बड़ी शोभा देता है।

शब्द के अर्थ से वस्तु की उपयोगिता का आभास—ये जितने व्यवहार में शब्द आते हैं न, सब शब्दों का व्युत्पत्यर्थ है। कोई शब्द यदि हिन्दी के है तो उनका हिन्दी के अनुसार अर्थ है। आप कहते हैं ना लोटा। लोटा उसका नाम है जिसके नीचे पेंदी न हो, चारों तरफ लुढ़कता रहे, लोटता रहे उसका नाम है लोटा। आप कहते हैं गड़ई। मारवाड़ में गड़ई कहते हैं, बुन्देलखण्ड में खूब कहते हैं। गड़ई उसका नाम है जिसके नीचे गड़ जाने जैसी चीज बनी हो। जो ऐसी गड़ जाय कि हिलेडुले नहीं उसका नाम है गड़ई। पतेली बोलते हैं ना, जिसमें साग छौंकी जाती है। जो अटक न रखकर, कृपा भी न रखकर जिसमें साग पतित कर डाली जाय उसका नाम है पतेली। पतेली में घी जीरा आदि डाल दिया, उसके बाद फिर साग को बेरहमी से पटक दिया जाता और फिर लोग दृष्टि भी नहीं डालते हैं तो जिसमें साग पतित कर दिया जाय, डाल दिया जाय उसका नाम है पतेली। भगोना लोग बोलते है। भगोना मायने भगो ना। वह जल्दी उठाया नहीं जा सकता है उसका नाम है भगोना। तो यह शब्दों में ही अर्थ भरा हुआ है। यों ही पचासों शब्द हैं जिनको आप अपने व्यवहार में बोला करते हैं। तो कमण्डलु केवल कायशुद्धि के लिए ही साधुजन रखते हैं। मलमूत्र क्षेपण के बाद वे कायशुद्धि करते हैं और इसके पश्चात् कैसा परिणाम बनता है यह बहुत ध्यान से सुनने लायक बात है, इसे फिर कहेंगे।

कायधर्म की पूर्वोत्तरविधि—अपहृतसंयम में प्रवृत्त साधुजन जब मलमूत्र क्षेपण करते हैं। प्रासुक, दूसरों की बाधा से रहित, जहां दूसरे रोके नहीं ऐसे स्थान पर क्षेपण किया करते हैं। वे ऐसे योग्य स्थान पर शरीर का धर्म करते हैं। इसका नाम शरीर का धर्म कहा है। मल करना, मूत्र करना, थूकना ये क्या है? शरीर के धर्म। और आत्मा की सावधानी रखना, श्रद्धान् रखना, ज्ञान रखना, आचरण करना ये क्या हैं? आत्मा के धर्म। शरीर का धर्म करने की वहाँ आवश्यकता थी। तो मलमूत्र

आदिक का क्षेपण करके फिर उस स्थान से चलकर उत्तर दिशा में कुछ चलकर और उत्तर दिशा की ओर मुख करके, उत्सर्ग करके अर्थात् मन, वचन और काय की चेष्टावों का परिहार करके, अपने को भाररहित चैतन्यस्वरूप का अनुभव करने की तैयारी करके, अव्यग्र होकर चित्त को स्थिर करके वे साधुजन अपने आपकी भावना करते हैं।

कायधर्म के बाद आत्मधर्म—जैसे किसी बड़ी दुर्घटना से बच जाय कोई तो दुर्घटना से निकलने पर अपने आपमें खैर मनाता है, विश्राम लेता है और कुछ अपने आपके हित की धुन करता है। जैसे मानों कहीं कोई साम्प्रदायिक दंगा हो और उस दंगा में जो फंस जाता है, जान का खतरा है और किसी तरह से उस खतरे से निकल आये तो ऐसा चित्त में लगता है कि अब हम बच गये तो अब मित्र, स्त्री, पुत्र में ममता करके अब क्यों जीवन बिगाड़ें, अपने हित में सावधान रहें। ऐसी ही दिन में कई बार जो साधुवों को दुर्घटना आती है क्या, क्या दुर्घटना? शौच जाना, पेशाब करना, आहार करना, ऐसी-ऐसी जो उनके लिए दुर्घटनाए आती हैं, साधुजन उन्हें दुर्घटना समझते हैं, करना पड़ता है, तो उनसे जब निवृत्त होते हैं तो खैर मनाते हैं, कायशुद्धि करके अपने आपमें विश्राम लेते हैं, कुछ अपनी विशेष सुध करते हैं।

प्रतिष्ठापना के बाद सहज उन्मुखता—ये संयमीजन शरीर का धर्म करने के पश्चात् उत्तर दिशा की ओर जाते हैं अथवा उस स्थान से पीछे की ओर आते हैं। कुछ थोड़ीसी सहज उनकी ऐसी वृत्ति बन जाती है अथवा उनका मन झुका है तीर्थंकरों में शाश्वत जो विराजमान् है, तो जैसे किसी को कोई थोड़ा सताये तो मौका पाकर छूटकर अपने शरण की ओर दृष्टि देता है। यों ही इन कार्यों की आफतों से छूटता है तब साधु प्रकृत्या अपनी और निरखता है। जो तीर्थंकर परमार्थ पुरुष हैं उनकी ओर दृष्टि देना है। विदेह में तो शाश्वत् विराजमान् है। सो उत्तर दिशा की ओर थोड़ा चलकर और उत्तर दिशा की ओर मुख करके वे कायोत्सर्ग किया करते है। उस कायोत्सर्ग के समय में आत्मा की भावना करते हैं। थोड़ा उनको इस बात का खेद भी होता है और कहां इस जीव को मलमूत्र करने जैसी प्रवृत्ति में भी उपयोग देना पड़ता है। इसका उनके खेद होता है।

काय में क्या—कायोत्सर्ग करके वे शरीर की अशुचिता की बार-बार भावना करते हैं। यह शरीर कितना अशुचि है, इसमें मलमूत्र भरा है और भीतर क्या है? कोई मजाकिया पुरुष था व्यापारी। भैंसे पर बोझ लादे हुए जा रहा था। रास्ते में मिला चुंगी का घर, चुंगी वाले ने कहा—अबे क्या लिए जा रहा है? व्यापारी बोला—भैंसा। इसमें क्या भरा है? व्यापारी बोला—गोबर। अबे किस तरह बोलता है? ओं ओं। ऐसा ही तो भैंसा बोलता है ना, यों ही जिस मुद्रा को देखकर, परिवार समागम में रहकर मस्त हो रहे हैं उनमें क्या भरा है? वही मल मूत्र, और बोलते क्या हैं? अपनी स्वार्थ भरी बातें।

आत्मपरिचय का वैभव—भैया ! इस जीव का दूसरा कोई साथी हो ही नहीं सकता। खुद की दृष्टि निर्मल हो और खुद खुद को पहिचान जाय तो इसके लिये परमशरण मिल गया समझिये, अन्यथा संसार में भटकते रहना बड़ा है। कहीं के मरे कहीं जन्में, फिर मरे फिर कहीं जन्में। फुटबाल की तरह यहाँ से वहाँ ठोकरें ही खाना पड़ेगी यदि अपने आपके सहजस्वभाव का परिचय नहीं होता है तो। अपने सहजस्वभाव का परिचय हो जाने पर फिर क्यों यह जीव स्थिर हो जाता है, आनन्दमय हो जाता है। इसका कारण यह है कि यह मैं खुद आनन्द से भरपूर हू। आनन्द से भरपूर क्या, आनन्द ही इसका स्वभाव है, आनन्द का ही नाम आत्मा है। वह आनन्द ज्ञान का अविनाभावी है। इस कारण यों कहो ज्ञानानंदस्वरूप यह आत्मा है। यदि आनन्दमय अपने आपका परिचय हो गया फिर अनन्त आनन्द क्यों न होगा? सब कुछ निर्णय अपने

आपके अंतरङ्ग में ही करना है। बाहर की बात तो जितना कम देखने को मिले, जितना कम सोचने को मिले, जितना कम उलझने को मिले उतना भला है।

प्रतिष्ठापनासमिति में अन्तर्वृत्ति—ये साधु महापुरुष प्रतिष्ठापना करके पश्चात् संसार के कारणभूत मन की प्रवृत्ति को रोककर और शरीर की चेष्टावों को रोककर वचनालाप रोककर कायोत्सर्ग करते हैं। उस कायोत्सर्ग के समय कितने ही आत्मप्रकाश उनमें आते रहते हैं। वे परमसंयमी साधु पुरुष मलमूत्र क्षेपण के बाद प्रतिष्ठापनासमिति करने के पश्चात् एक जगह खड़े होकर अपने आपके आत्मतत्त्व की भावना करते हैं और इस शरीर की अपवित्रता का बार-बार विचार करते हैं। तब इन साधुजनों के प्रतिष्ठापनासमिति है। केवल ऊपरी क्रियाए कर लेने मात्र से प्रतिष्ठापनासमिति नहीं होती।

प्रतिष्ठापनासमिति में संवरनिर्जरा हेतुत्व का कारण—कोई साधु यह कल्पना करे कि मैं साधु हू, मुझे जीव की रक्षा करनी चाहिए, मूत्र क्षेपण करने जायें तो जमीन देखकर निर्जन्तु स्थान में क्षेपण करें और बाद में फिर शुद्धि करके कायोत्सर्ग कर लें, लो हमने प्रतिष्ठापनासमिति निभाई। यह निर्णय कर लेना प्रामाणिक नहीं है। अरे प्रतिष्ठापनासमिति तो संवर और निर्जरा का कारण है। यदि बाहर में जीवों के द्रव्य प्राणों की रक्षा कर देने मात्र से प्रतिष्ठापनासमिति हो जाय तो यों जीवरक्षा तो अनेक प्रसंगों में साधारणजन भी किया करते हैं। इसमें यह मर्म है भरा कि जीवरक्षा करने के पश्चात् जो कि शरीर धर्म किया ना, मल, मूत्र, क्षेपण प्रवृत्ति की ना, ऐसी गंदी बातों में कुछ उपयोग लगाना पड़ा ना तो वे प्रायश्चित्त लेते हैं, खेद करते हैं, इस बात का कि मेरा यह 5 मिनट का समय इन बाहरी क्रियाकलापों की दृष्टि में व्यतीत हुआ और उस समय उनकी आत्मा की झलक चित्प्रकाश का प्रतिभास स्वात्मस्पर्श होता है और वे इस शरीर की अशुचिता की भावना करते हैं, ऐसा परिणाम बनता है तब उनके प्रतिष्ठापनासमिति होती है।

आहार से पहिले कायोत्सर्ग करने का प्रयोजन—साधुजन भोजन करने के पश्चात् भी कायोत्सर्ग करते हैं। उनके कायोत्सर्ग करने का प्रयोजन क्या है? आहार से पहिले जो वे सिद्ध भक्ति और नमस्कारमंत्र जपते हैं, वहाँ भी यह भावना करते हैं कि हे प्रभु ! अब मैं आहार करने जैसी एक आपत्ति में, बाह्य बात में पड़ रहा हू। उस उपयोग में यह बहुत सम्भव है कि मैं अपने आपसे बहुत दूर हो जाऊ और उसमें चित्त दूं। यह मेरे लिए आपत्ति है। मैं तो आनन्दमय निज आत्मतत्त्व का संग थोड़े भी समय को छोड़ना नहीं चाहता हू। पर शरीर की बात शरीर के कारण निभानी पड़ रही है। इस आहार में अब मैं प्रवृत्त होने जा रहा हू, सो हे प्रभु ! इसलिए मैं तुम्हारा स्मरण कर रहा हू कि आहार करने के समय में भी मैं आत्मा को भूल न जाऊ। मुझे इस आत्मस्वरूप का स्मरण रहा करे यही है भोजन से पहिले भक्ति करने का प्रयोजन।

आहार के पश्चात् कायोत्सर्ग करने का प्रयोजन—भोजन के बाद जो कायोत्सर्ग भक्ति की जाती है उसका प्रयोजन यह है कि एक विपत्ति से अब निकल आया। साधुपुरुष आत्मानुभव, आत्मज्ञान से अतिरिक्त जितने कार्य हैं उन कार्यों में प्रवृत्ति करने में वे विपदा मानते हैं। सो विपदा से निकलने के पश्चात् स्वयं ही एक परमविश्राम होता है और प्रभु की सुध आती है। सो यदि आहार करने के समय में आत्मस्वरूप का स्मरण भी बनाये रहा होगा तो वह कुछ खुशी में आनन्द में प्रभु का स्मरण कर रहा है। हे प्रभु ! तुम्हारी भक्ति के प्रसाद से इस विपदा में भी मैंने अपने आपके चिंतन को न छोड़ा। यदि आत्मतत्त्व से विमुख रहा है तो जितने समय आत्मतत्त्व से विमुख रहा उसका खेद साधुजन करते हैं और उस अपराध के प्रायश्चित्त के पश्चात् कायोत्सर्ग करते हैं।

प्रतिष्ठापना के पश्चात् कायोत्सर्ग का प्रयोजन—ऐसे ही प्रतिष्ठापनासमिति में मूत्रक्षेपण आदि के पश्चात् वे कायोत्सर्ग करते हैं जिसमें अव्यग्र होकर चित्त को स्थिर करके निज आत्मभावना करते हैं। व्यग्रता का समय जो था वह गुजर गया। अब अव्यग्र होकर आत्मतत्त्व की भावना और इस शरीर की अशुचिता का ध्यान करते हैं। ऐसे परमसंयमी साधु पुरुष के प्रतिष्ठापनासमिति होती है।

अन्तर्ज्ञान बिना धर्म की अप्राप्ति—अन्य जो मुनि नामधारी स्वच्छन्दवृत्ति पुरुष हैं उनके तो कोईसी भी समिति नहीं होती है। बाहर में बड़ा देखभाल कर भी चलें, दूसरों से बड़ी मीठी प्रेम की बात भी बोलें, बड़ी भक्ति भी लोगों को दिखायें, मल, मूत्र, क्षेपण भी समितिपूर्वक करें, इतने पर भी अन्तर्वृत्ति न जगे, स्वभाव परिचय न हो, निश्चय न हो, निश्चयसमिति न बने तो इतना काम करके भी संवर और निर्जरा तो होता नहीं।

मूल्य परिचय बिना परिश्रम की विडम्बना—कुछ मुसाफिर लोग बाजार से जा रहे थे किसी नगर को। जाड़े के दिन थे। रास्ते में जंगल में एक रात वे ठहर गए। खूब जाड़ा लगा, तो जाड़ा दूर करने के लिए उन मुसाफिरों ने खेतों की मेड़ पर से बाड़ी तोड़-तोड़कर जो यहाँ वहाँ सूखी जरेटियां पड़ी थी उन्हें बीन-बीनकर एकत्रित किया और चकमक से आग निकालकर उसे ईंधन में डाल दिया, फिर फूंका। खूब जलाकर हाथ पसारकर सब तापने बैठ गए। खूब रातभर तापा। वे मुसाफिर तो तापकर दूसरे दिन चले गए। उन मुसाफिरों की सारी क्रिया पेड़ पर चढ़े हुए बंदर देख रहे थे। सो दूसरे दिन उन बंदरों ने भी सोचा कि अपन भी जाड़ा मिटाने के लिए वैसा ही करें जैसा कि उन मनुष्यों ने किया था। सो वे बंदर भी जरेहटें एकत्रित करने के लिए चारों ओर दौड़े। लाकर जरेहटें एकत्रित कर दिया और तापने बैठे। अब सभी बंदर सोचते हैं कि इतना काम तो कर डाला, फिर भी जाड़ा नहीं मिटा। तो एक बंदर बोला कि इसमें कुछ लाल-लाल डाला गया था। बिना उसके जाड़ा कैसे मिटे? तो उस समय बहुत सी पटबीजना उड़ रही थी, उन्हें पकड़ कर सब बंदरों ने उसमें डाला। सारा ईंधन लाल-लाल हो गया, फिर भी जाड़ा न मिटे। एक बंदर बोला, अरे जाड़ा अभी कैसे मिटे, वे मनुष्य इसे फूंक रहे थे, सो वे सब उसे फूंकने लगे। फिर भी जाड़ा न मिटा। एक बंदर फिर बोला—अरे मूर्खों वे फूंकने के बाद हाथ पसारकर यों बैठ गये थे। सो हाथ पर हाथ रखकर वे भी बैठ गये। इतना कर लेने पर भी उन बंदरों का जाड़ा न मिटा। अब बतावो—उनके यत्न में कौनसी कसर रह गयी? सारे काम तो कर डाले।

अन्तर्ज्ञान बिना चेष्टा की विडम्बना—सो भैया ! जैसे उसमें डाली जाने वाली आग का पता उन बंदरों को न था, सो उनका सारा श्रम व्यर्थ गया, ऐसे ही भीतर में इन पापकर्मों का कर्म ईंधन को जला देने वाली स्वानुभूमिरूपी अग्नि का परिचय न होने से ये अज्ञानीजन उन्हीं बंदरों की भांति भेष धारण करें, नग्न भी हो जायें, दूसरों को उनमें कोई दोष भी नजर न आये, इतने पर भी एक सुगम स्वाधीन आत्मतत्त्व का परिचय न होने के कारण वह सब व्यर्थ चला जाता है, संवर और निर्जरा नहीं हो पाती है। स्वरूपपरिचयी गृहस्थ अज्ञानी मुनि से उत्तम है। सद्गृहस्थ तो मोक्षमार्ग में लगा हुआ है और भेषी साधु मोक्षमार्ग से विमुख रहता है। कुछ भी स्थिति आये, अपना कर्तव्य है कि अपने आपके अन्तर में विराजमान् नित्य प्रकाशमान् इस सहज आत्मतत्त्व की दृष्टि बनायें। इस आत्मतत्त्व के बल से ही परमसंयमी साधु के प्रतिष्ठापनासमिति होती है। यहाँ तक कि प्रतिष्ठापनासमिति का वर्णन चला है।

समितियों में आत्मसाम्राज्य—ये सर्व समितियां मुक्ति साम्राज्य का मूल हैं। देखो—कहने सुनने को तो यह समिति प्रवृत्तिरूप है, किन्तु जो प्रवृत्ति अंश है वह संवर निर्जरा का कारण नहीं है। उन प्रवृत्तियों के करते हुए में और उन

प्रवृत्तियों के अनन्तर ही पश्चात् जो साधु के स्वानुभव और चित् प्रकाश चला करता है वह है संवर निर्जरा का कारण। देखो प्रवृत्ति में भी जो सावधानी बना सके उसके सावधानी बनी रहती है। राग से निवृत्ति हो गयी तो सही बात है ही, किन्तु उससे भी अधिक अभ्यास उस पुरुष को है जो प्रवृत्ति में भी आत्मसावधानी बनाये रहे।

प्रवृत्ति में भी असावधानी का एक उदाहरण—कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि साधु जो तीन प्रकार के होते हैं ना—आचार्य, उपाध्याय और मुनि। इनमें से आचार्य को बड़ा झंझट रहता है। शिष्यों की संभाल करना, उन्हें प्रायश्चित्त देना, शिक्षा देना, बड़े झंझट रहते हैं। अरे आचार्य को झंझट रंचमात्र भी नहीं है। आचार्य की सावधानी मुनि से भी अधिक रह सकती है, इतनी प्रवृत्ति में रहकर भी आचार्य अपने आत्मा की विशद दृष्टि बनाये रहे तो समझो उनके भीतर में कितनी बड़ी योग्यता बसी हुई है? इस समिति में निवृत्ति के अंश की, स्वभाव की उन्मुखता की विशेषता है।

समितिधर गुरुवर की उपासना से श्रावक को शिक्षण—जो जिनमत में कुशल हैं, स्वात्मचिंतन में दक्ष हैं, ऐसे साधुजनों को ये सब समितियां मुक्ति का राज्य पाने के लिए मूल कारण हैं। जो पुरुष विकारी होते हैं, कामवासना से जर्जरित हैं, जिनका हृदय दुर्भावना से लद गया है ऐसे मुनिजनों को यह समितियां प्राप्त नहीं होती हैं। मुनिजनों की समिति तो उत्तम संयम है ही, किन्तु श्रावकजन भी मुनि के उपासक हैं ना, सो जैसे माता मंदिर में प्रभु की मूर्ति के आगे अपना सिर नवाती है तो साथ में रहने वाला लड़का भी मात्र प्रेम की वजह से सिर नवाता है। नहीं होता है उस बालक को ज्ञानरूप अनुभव, लेकिन जब मां जाप करती है तो वह बालक भी जाप करने लगता है। तो श्रावक भी चूकि मुनियों के उपासक हैं, इस कारण जैसे मुनि सावधानी से प्रवृत्ति करते हैं, वैसे श्रावक को भी अपने पद और शक्ति के अनुसार सावधानी करनी चाहिये।

गाथा 66

कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइ असुहभावाणं।
परिहारो मणगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं।।66।।

पूर्ववर्णित महाव्रत और समितियों का स्मरण—इससे पूर्व व्यवहार चारित्र अधिकार में पञ्चमहाव्रतों और पञ्चसमितियों का वर्णन हुआ। साधुजन व्यवहारचारित्र के समय भी अंत:चारित्र की उन्मुखता को नहीं छोड़ते हैं। चारित्र की जान अन्तर्भावना है। केवल मन, वचन, काय की चेष्टा और स्थिरता को चारित्र नहीं कहते हैं। चारित्र पुद्गल का गुण नहीं है, चारित्र आत्मा का गुण है। दर्शन और ज्ञान की पर्यायों में स्थिरता से आलम्बन होना अर्थात् ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहना इसको चारित्र कहते हैं। व्यवहारचारित्र पालन करते हुए यदि इस अंत:संयम की सुध रहती है तब उसका नाम व्यवहारचारित्र है। पंचमहाव्रतों में साधुजन किस प्रकार अन्तर्भावना करते हैं इसका भी वर्णन पहिले निकल चुका है और समितियों के समय इस ही प्रकार साधुजन निश्चयसमिति का पालन करते हैं।

ईर्यासमिति में निश्चय व्यवहार—ईर्यासमिति में व्यवहार अंश तो इतना है कि जीवरक्षा का भाव रखते हुए अच्छे काम के लिए सद्भावना सहित दिन में चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना। उस समय भी निश्चयसमिति उनके है। वे इस प्रकार से जानते हैं कि विहार करना आत्मा का स्वभाव नहीं, अविहारस्वभावी आत्मा की सिद्धि के लिए विहार करना पड़ रहा है। होती है कोई परिस्थितियां ऐसी कि जब विहार करना ही चाहिए। मैं तो इस अविहार स्वभावी आत्मतत्त्व में गमन कर रहा हू, गमन करना चाहिए। गमन करने का उनका जो यत्न रहता है वह है निश्चय ईर्यासमिति।

भाषासमिति में निश्चयव्यवहार—भाषासमिति में भी हित मित प्रिय वचन साधुजन बोलते हैं। इतने पर भी उनके अन्तर्भाव यह रहता हे कि वचन बोलने का स्वभाव मेरा है ही नहीं, मैं तो भाषा से रहित केवल भावमात्र चैतन्यस्वरूप हू। उस निर्वचन निर्वाध आत्मतत्त्व की उन्मुखता का यत्न रखते हुए वे रहते हैं, यह है उनकी निश्चयसमिति का पालन।

आदाननिक्षेपण समिति में निश्चयव्यवहार—व्यवहार में वे शौच, संयम और ज्ञान के उपकरणों को ग्रहण करते हैं और रखते हैं सावधानी सहित जीवरक्षा का ध्यान रखते हुए, किन्तु साथ ही अंतरंग में यह भी संस्कार बना हुआ है कि बड़ी सावधानी सहित अपने आपके गुणों का तो ग्रहण करना और विकारों का क्षेपण करना, ऐसी निश्चयसमिति सहित उनका आदान निक्षेपणव्यवहारसमिति में चलता है।

ऐषणासमिति में निश्चयव्यवहार—ऐषणासमिति में वे शुद्ध विधि सति अंतराय टालकर, दोषों को दूर कर आडम्बर पाखण्डों को न बढ़ाकर वे आहार की एषणा करते हैं। यह तो उनका व्यवहारसमिति अंश है किन्तु अंतरंग में उनके यह ध्यान बना हुआ है कि मेरे आत्मा का तो केवल द्रव्यापन का कार्य है। आहार करने जैसी अत्यन्त बेढंगी बात में लगाना पड़ता है। कहां तो यह मैं अमूर्त आत्मतत्त्व और कहां यह मूर्त पुद्गल आहार। इसका इसके साथ जोड़ा क्या? ऐसे अनाहारस्वभावी अमूर्त आत्मतत्त्व की सिद्धि के लिए चूकि यह परिस्थिति बड़ी विकट है सो आहार ग्रहण करना पड़ रहा है। आहार ग्रहण करते हुए अनाहारस्वभावी आत्मतत्त्व का ध्यान रखने वाले साधुवों को आहार का मजा ही क्या आयेगा? भले ही लोग हाथ जोड़ रहे हैं, बड़े मिष्ठ व्यञ्जन सामने रख रहे हैं, किन्तु उनका चित्त तो अनाहारस्वभावी आत्मतत्त्व की ओर है। या निश्चय समिति सहित व्यवहारसमिति का पालन करते हैं।

प्रतिष्ठापनासमिति में निश्चयव्यवहार—प्रतिष्ठापना समिति में वे गुप्त प्रासुक, बाधारहित जहां किसी की रुकावट न हो, ऐसे स्थान पर मलमूत्र क्षेपण करते हैं। मलमूत्र क्षेपण करने के पश्चात् कायोत्सर्ग करके उनकी ऐसी भावना में जो विशुद्धि बढ़ती है वह भी आश्चर्यजनक है। एक बेढंगी पर की बात से निपट कर, इस शरीर की हठों के झंझटों से दूर होकर वे साधु अपने आपमें विश्राम लेते हैं और उस निर्दोष निर्मल आत्मतत्त्व की भावना करते हैं। साथ ही इस शरीर के अशुचिपने का बार-बार परिणाम बनाते हैं, मन में चिंतन करते हैं। यों अन्तर में निश्चयसमिति सहित वे प्रतिष्ठापनासमिति करते हैं।

समितिधर संतों के गुप्ति की भावना—इस प्रकार प्रवृत्ति करते समय समितियों सहित अपनी प्रवर्तना करने वाले साधुसंत परिणाम यह रखते हैं कि यह सब कुछ भी न करना पड़े उस ही में भला है और इन झंझटों से दूर होकर जब-जब भी लम्बे-लम्बे अवसर आते हैं वे गुप्तियों के पालने में रत रहते हैं अथवा थोड़ा भी अवसर मिले तो वे गुप्तियों के पालने का यत्न करते हैं।

गुप्ति का अर्थ—गुप्ति कहते हैं रक्षा करने को। लोक में गुप्ति का अर्थ छुपाना प्रसिद्ध हो गया है। यह गुप्त बात है अर्थात् छुपाई गयी बात है, पर गुप्त का अर्थ छुपाना नहीं है। गुप्त का अर्थ है रक्षा करना। किन्तु रक्षा छुपाने में अधिकतया होती है इसलिए उसका असली अर्थ लोग भूल गए और छुपाना अर्थ प्रसिद्ध हो गया। यह मेरी बात गुप्त रखना, इसका अर्थ तो यह है कि वह मेरी बात सुरक्षित रखना। बात सुरक्षित कब रहेगी जब आप अपने मन में छुपाये हुए रहेंगे। यदि बोल दिया तो उस बात की टाँग टूट जायेगी और बोलने वाले की आफत आ जायेगी अर्थात् गुप्त का अर्थ है रक्षित करना। जिसमें निज आत्मतत्त्व की रक्षा हो उसे गुप्ति कहते हैं।

मनोगुप्ति का अर्थ—वह गुप्ति तीन प्रकार की है—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। इन गुप्तियों में से इस समय मनोगुप्ति का वर्णन चल रहा है। मोह, संज्ञा, रागद्वेष आदि अशुभ भावों के परिहार करने को व्यवहारनय से मनोगुप्ति कहा गया है। मनोगुप्ति एक ही पद्धति की है, किन्तु जान बूझकर हठ करना, श्रम करना, मनोगुप्ति बताना सो तो व्यवहार मनोगुप्ति है और इतना अभ्यास बन जाय, इतनी स्वच्छता और दृढ़ता आ जाय कि वे सारे काम सहज हों, हो वह निश्चय से मनोगुप्ति है। मनोगुप्ति का उद्देश्य दोनों में एक है। एक बना करके यत्न किया और सहज हुआ।

कलुषता का बोझ—कलुषता का अर्थ है क्रोध, मान, माया, लोभ। जैसे पानी स्वच्छ है, उसमें कोई दूसरी रंगीली चीज डाल दी जाय तो वह पानी कलुषित हो जाता है। इस ही प्रकार यह आत्मतत्त्व स्वच्छ है किन्तु इसमें क्रोध, मान, माया, लोभ का कोई रंग गिर जाय तो वह रँगीला और कलुषित हो जाता है। इसका स्वभाव स्वच्छ ज्ञातृत्व का है, केवल जानन यह कितना सूक्ष्म और व्यापक कार्य है। यह एक जानन का अभ्यासी पुरुष जान सकता है और मोटे रूप में यों समझिये कि यद्यपि जीव के स्वभाव भाव और विकारभाव सब ही आकार रहित हैं, रूप, रस आदिक रहित है फिर भी ऐसा विदित होता है कि जहां केवल जाननरूप ही वृत्ति है वहाँ तो अत्यन्त सूक्ष्म भाव है और जब क्रोध, मान, माया, लोभ आदि तरंग आ जाते हैं तो वहाँ वह स्थूल भाव हो गया। इतना बोझ हो जाता है। सूक्ष्मतत्त्व का बोझ नहीं होता है किन्तु निर्भार स्थूल मोटी चीज आ जाय तो वहाँ बोझ हो जाता है। सो देख लो क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय करते हुए में इस जीव को कितना बोझ रहता है? इतना बोझल होता हुआ यह जीव कर्मों के भार को, शरीर के भार को ढोता हुआ यत्र तत्र विचार रहा है।

मनोगुप्ति की उत्कृष्टता और अनुत्कृष्टता—उन क्रोधादिक चारों कषायों से रहित अपनी वृत्ति बनाना यह है मनोगुप्ति। अपने मन में दुर्भाव न जगना, मन को वश में करना सो है मनोगुप्ति। मनोगुप्ति का उत्कृष्ट अंश तो यह है कि शुभ और अशुभ सभी प्रकार के विचार भी दूर हो जायें और उससे अनुत्कृष्ट अंश यह है कि अशुभ संकल्प विकल्प उत्पन्न न हों और शुभ संकल्प से अपने आपकी रक्षा का यत्न करें यह अनुत्कृष्ट अंश है।

क्रोध में अविवेक का प्रसार—क्रोध कषाय में यह जीव बेहोश हो जाता है। कर्तव्य अकर्तव्य का विवेक नहीं रहता है। गुस्सा ही तो है। उस गुस्से में जो कुछ कर आये। क्रोध कुछ अविवेक को लिए हुए होता है। यद्यपि ज्ञानी पुरुष के भी कभी क्रोध भी आ जाता है तो भी विवेक को स्पर्श किए हुए होता है, एकदम अविवेक और अज्ञान भरा नहीं होता है। फिर भी जितने अंश में विवेक है वह तो है ज्ञान का कार्य और जितने अंश में अविवेक है वह है क्रोध का कार्य।

क्रोध से स्वपरव्यपाय—क्रोध में आकर मुनि द्वीपायन ने अपना सर्वस्व नाश किया और नगरी का भी नाश हुआ। द्वीपायन सम्यग्दृष्टि साधु थे। सम्यग्दर्शन और सच्ची साधुता आये बिना तैजस ऋद्धि नहीं प्रकट होती। उनके तैजस ऋद्धि थी। तैजस दो प्रकार का होता है—शुभ तैजस और अशुभ तैजस। वह ऋद्धिधारी किसी नगर पर, किसी समूह पर, किसी पर प्रसन्न हो जाय तो उसके दाहिने कंधे से उत्तम ओज निकलता है और वह सबको भला करने का कारण हो जाता है। उनको ही किसी कारण से क्रोध आ जाय तो बायें कंधे से गंदा, विकराल, लाल रंग का बिलाव जैसे आकार का तेजपुञ्ज निकलता है उसके निकलते ही उसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है, वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है अपना विनाश कर लेता है और इस नगर का, उस समूह का, उस व्यक्ति का भी सर्वनाश कर देता है, प्राणघात कर देता है।

क्रोधविनाश की शीघ्रता में भलाई—क्रोध का थोड़ा भी उपजना बुरा है। थोड़ा भी उपजे उसही समय सावधानी कर ले। क्रोध के कारण दूसरों से जो वचनालाप हो जायेगा उसका विसम्वाद इतना बढ़ जायेगा कि पीछे चाहते हुए भी उस झगड़े का मिटाना कठिन हो जायेगा। इस क्रोध की कलुषता का परिहार करना, इसका नाम है मनोगुप्ति।

मायाचार की कलुषता—घमंड भी बहुत कलुषित भाव है। अचरज तो यह है कि घमंडी पुरुष घमंड करके, मान बगराकर, शान जताकर अपने को समझता है कि में श्रेष्ठ हो गया हू, किन्तु सारी दुनिया उसे उल्लू, बेवकूफ समझ रही है। उस घमंडी पुरुष का इस यथार्थता की ओर चित्त ही नहीं जाता है। मान कषाय तो उन्मत्त बना देता है। उसे मान कषायों का परिहार करना सो मनोगुप्ति है।

मायाचार की कलुषता—ऐसे ही माया कषाय बड़ी कलुषता है माया छल कपट करने को कहते हैं। मायाचार का परिणाम बहुत तीव्र कलुषता है। मन में कुछ हैं, वचन में कुछ कह रहे हैं, करना कुछ है, ऐसी अटपटी प्रवृत्ति इन जीवों का कितना विनाश कर देती है? इस ओर मायावी पुरुष का ध्यान नहीं जाता है और कदाचित् मायाचार करके किसी दूसरे की आंखों में धूल झोंक दिया अथवा दूसरों का विनाश हो जाय तो उसमें यह मायावी पुरुष आनन्द मानता है। मायाचार से बढ़कर कलुषभाव अन्य कषायों को भी नहीं कहा गया है। माया को शल्य में शामिल किया गया है अन्य कषाय का नाम शल्य में नहीं लिया है। ऐसे मायाचार का परिहार करना इसका नाम है मनोगुप्ति।

लोभ की कलुषता—इसी प्रकार लोभ कषाय का रंग भी बहुत गहरा रंग है। ये धन, मकान, जड़ पदार्थ जो अत्यन्त भिन्न हैं, अचेतन हैं जिससे इस आत्मा की कुछ भी भलाई नहीं है, बल्कि उनमें चित्त फंसा रहने से यह आत्मा नरक की ओर जा रहा है, पतन कर रहा है अपना। रहना अंत में कुछ नहीं है, छोड़ देना पड़ेगा ही, किन्तु तृष्णा बनी रहे, धन वैभव में उपयोग बसा रहे तो गति और बिगड़ेगी। रहना तो कुछ है ही नहीं। गति और बिगाड़ ली जाती है। लोभ कषाय का परिहार करना इसे कहते है मनोगुप्ति। साधुवों के मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये तीनों विशुद्धि हो जाती है, सो प्राय: करके उन्हें अवधिज्ञान अथवा मन:पर्ययज्ञान प्रकट हो जाता है।

गुप्ति के प्रताप का एक उदाहरण—एक कथन में बताया है कि जब राजा श्रेणिक ने रानी चेलना से बहुत हठ किया कि तुम इस जगह साधु को आहार करावो और उस जगह हड्डियां भरवा दीं। चेलना ने उस जगह खड़े होकर यों पड़गाहा था, हे त्रिगुप्तिधारक महाराज ! तिष्ठ ! एक मुनि आया और एक अंगुली उठाकर चला गया, रुका नहीं। दूसरा मुनि आया वह भी एक अंगुली उठा कर चला गया। तीसरा मुनि आया वह भी एक अंगुली उठा कर चला गया और एक मुनि आया वह ठहरा ही नहीं, मौनपूर्वक चला गया। जब कारण विदित किया गया तो मालूम हुआ कि एक मुनि ने यह कहा कि मेरे मनोगुप्ति सिद्ध नहीं हुई। त्रिगुप्ति धारक कहकर पुकारा था। उन्होंने कथा भी बताई। समय नहीं है और न प्रसंग है। एक ने बताया था कि मेरे वचनगुप्ति सिद्ध नहीं है, एक ने बताया कि मेरे कायगुप्ति सिद्ध नहीं है और जिसको तीनों गुप्तियां सिद्ध हो गयी उसने सोचा कि त्रिगुप्तिधारक मुनिराज कहकर यह क्यों पुकार रही है। झट कारण जाना अवधिज्ञान से, अशुद्ध स्थान है, यहाँ आहार नहीं लिया। तो यही वैभव और यही महान् पुरुषार्थ है। मन का वश में रखना, मन का शुद्ध रखना, चारों कषायों का परिहार करना—इसे मनोगुप्ति कहते हैं।

भैया ! इतनी तो कम से कम अपने लिए भी शिक्षा लें कि यदि मन से सब प्राणियों के हित की बात सोची जाय तो उसमें तुम्हारा भला ही है, बिगाड़ कुछ नहीं हैं। तुम केवल भाव ही बना सकते हो। किसी दूसरे का कुछ नहीं कर सकते। जब केवल भाव बनाने तक ही तुम्हारी हद है तब शुद्ध भाव ही क्यों न बनाये जायें। सर्वप्राणियों का हित सोचें सर्व सुखी हों, शुद्ध दृष्टि बने, ज्ञान का उजेला पायें। ज्ञान से बढ़कर इस जीव का लाभ लोक में कुछ नहीं है। शुद्ध ज्ञान ही शरण हैं। बड़ी सम्पदा हो, राजपाट हो, फिर भी ज्ञान विपरीत है, अट्टसट्ट है, अविवेकपूर्ण प्रवृत्ति है तो उसे चैन तो न मिलेगी, अशांति ही रहेगी। और कोई दूसरा धनहीन भी है अथवा धन का त्याग करके संन्यासी हुआ है, वह तो अपने आपमें ज्ञानसुधारस का स्वाद लिया करता है। ज्ञान की सुख शांति का परम आधार है। इसलिए सही ज्ञान रहे, सब जीवों के प्रति हमारा पवित्र परिणाम रहे, किसी को भी कष्ट मेरी चाह से न आये, ऐसी वृत्ति बनाना हम सबका कर्तव्य है। यों मन को वश में रखने वाले साधुजन चारों प्रकार की कषायों का परिहार करते हैं।

मनुष्य को मनोगुप्ति की आवश्यकता—संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याय पाकर भी इस जीव को मन की हैरानी से इतना विह्वल होना पड़ता है कि जिसमें बहुत अधिक कर्मबन्ध हो जाया करता है, इतना कर्मबंध असंज्ञी पंचेन्द्रिय नहीं कर सकता। चारइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, दोइन्द्रिय इन सबमें उत्तरोत्तर कर्मों की स्थिति कम बंधने की योग्यता है। सर्वाधिक कर्मों की स्थिति का बंध संज्ञी पंचेन्द्रिय कर पाता है। यह मन बिगड़ता है तो ऐसा बिगड़ता है कि 70 कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति का महान् कर्म यह ही बांधता है मन को वश में करना यह शान्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। मन से जैसा चाहे वैसा प्रवर्तन करना मायामय इस दुनिया में इस मायामय रूप को देखकर इनमें अपनी शान चाहना, इनमें अपना बड़प्पन चाहना, मन को यों स्वच्छन्द चलाना, ये क्लेश के ही कारण हैं। संतजनों का आभूषण, सर्वोत्कृष्ट आभूषण मनोगुप्ति है। मनोगुप्ति वहाँ हो सकती है जहां मोह का अभाव है।

मोहविस्तार—मोह होते हैं दो प्रकार के। दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शनमोह में श्रद्धा बेहोश रहती है और चारित्रमोह में चारित्र बेहोश रहता है। दर्शनमोह का नाम है अज्ञान और चारित्रमोह का नाम है राग और द्वेष। अज्ञान, मोह, मुग्धता, मूढ़ता, पर्यायबुद्धि, बहिरात्मपन ये सब दर्शनमोह की लीलाए हैं। रागद्वेष सुहा जाय, न सुहा जाय यह सब चारित्र मोह का विलास है। कैसी स्थितियां होती है कि अन्तर में दर्शनमोह रंच नहीं है, निज को निज पर को पर यथार्थरूप से जान रहे हैं, फिर भी कैसी पुरातन प्रेरणा है कि इस ज्ञानी संत को भी किन्हीं परिस्थितियों में कुछ सुहाये और कुछ न सुहाये—ऐसी स्थितियां आती है। इन स्थितियों में उसका तो आभार मानों, धन्यवाद मानों, जो इतनी स्वच्छता आयी है कि दृष्टि कलंकित नहीं हो रही है। फिर इतना खेद है कि भिन्न पदार्थों के प्रति कुछ सुहा जाने और कुछ न सुहा जाने का परिणाम हो रहा है।

मोह और रागद्वेष में अन्तर—मोह में और रागद्वेष में अन्तर है। कोई रोगी इलाज के खातिर औषधि पीने में रागद्वेष कर रहा है तो औषधि विषय के उस रोगी के रागद्वेष तो है, किन्तु औषधि से मोह नहीं है। औषधि से राग है, यदि दवा न मिले समय पर तो द्वेष भी हो जाता है, जो समय पर औषधि दे दें उससे राग भी हो जाता है, पर औषधि से मोह रंच भी नहीं है। ऐसे ही ज्ञानी पुरुष की ऐसी मोहनीय स्थिति हो जाती है कि विषयभोगों में, परपदार्थों में, मौज में, मोह रंच नहीं है। फिर भी कुछ प्रेरणा है ऐसे संस्कारों की और बाह्य में कर्मोदय की है कि इसे फिर भी कुछ राग और द्वेष हो जाता है। मनोगुप्ति उसके होती है जिसके दोनों प्रकार का मोह नहीं होता। मोह का परिहार किया जा रहा हो। जैसे

दूसरे का बालक रूप में भी सुन्दर हो और चतुराई की बातें भी बोलता हो, साथ ही विनयशील और आज्ञाकारी भी हो, सबको पहिले प्रणाम कर देता हो, तो वह सुहा तो जाता है पर उसमें मोह नहीं रहता है जबकि अपने घर का पैदा बालक चाहे आज्ञा न मानता हो, कुछ थोड़ा रूप से भी हीन हो तिस पर भी मोह रह सकता है। मोह से बढ़कर कलंक कोई नहीं है इसको।

समागम में प्रसन्नता का अकारण—भैया ! कितना श्रेष्ठ मनुष्यभव पाया है? हम अपने जगत् के जीवों पर दृष्टि पसार कर देखें तो सही कि हम आपने कितनी ऊची स्थिति पा ली है? अब ऐसे अनुपम जीवन में अपने आत्मा के दर्शन और अनुभव का आनन्द न लूटा तो फिर काहे के लिए यह जीवन हुआ? किसी से कहा जाय कि हम तुम्हें दो दिन के लिए राजा बनाए देते हैं, दो दिन बाद तुम्हारे पास जो भी अट्टसट्ट है यह सब छीनकर तुम्हें तौलिया मात्र पहना कर जंगल में फेंक दिया जायेगा। ऐसे दो दिन के राज्य को कौन चाहेगा? ऐसे ही यह मनुष्यभव क्या है। दो दिन को राजा बन गया है। देखो ना बड़े से बड़ा बलवान भैंसों पर ऊंटों पर, हाथियों पर अपना राज्य चलाता है, अंकुश चलाता है, हुकूमत चला रहा है। राजा है यह मनुष्य। यह जब अन्य मनुष्यों पर दृष्टि डालता है तो अपने को तुच्छ अनुभवने लगता है, किन्तु व्यापक दृष्टि से लोक के सकल जीवों पर दृष्टि डालकर निहारो तो जरा, कितनी श्रेष्ठ स्थिति पायी है राजापने की? पर बनाया तो है तुम्हें दो दिन का राजा, लेकिन इसके बाद तुम्हारे पास जो कुछ अट्टसट्ट है वह भी सब छुड़ाकर तुम्हें दुर्गतियों में पटक दिया जायेगा, ऐसी स्थिति मालूम हो तो कौन प्रसन्न होगा दो दिन के राज्य में?

विपदा के पूर्ववर्ती सुख में क्या आराम—जिसे फांसी का हुक्म होता है उसे फांसी पर चढ़ाने से पहिले, उसके आगे मिठाइयों का थाल रक्खा जाता है, खूब छककर खावो जीवन में भी न देखा हो ऐसा मिष्ठान तो उसे मिठाई खाना न रुचेगा, उसकी दृष्टि तो दूसरी जगह है। यों ही इस संसार महावन में बड़ी-बड़ी दुर्गतियां हो रही हैं, ऐसी स्थितियों के बीच में जिस ज्ञानी संत पुरुष को संसार की असारता विदित है उनके अनेक भोग साधन भी प्राप्त हो जायें तो क्या वह उनमें चैन मानेगा? नहीं मानेगा।

निर्मोहता की प्रतिभूति—साधुसंत क्या है? भगवान की एक प्रतिमूर्ति है। भगवान की मुद्रा और साधु की मुद्रा दोनों एक प्रकार हैं सो ही निर्ग्रन्थ भगवान्, सो ही निर्ग्रन्थ साधु। बाह्य तो एक रूप है, और यदि कोई अंतरंग में गृहस्थ से भी गया बीता हो तो उसमें फिर क्या बात हुई? कुछ भी नहीं। किन्तु अन्तरंग से प्रभु से होड़ लगाये हुए हो, वीतरागता की प्रगति में चल रहा हो वह साधु तो भगवान् की प्रतिमूर्ति है। ऐसे साधुसंतों के मोह का परिहार होता है। जहां मोह का परिहार है वहाँ मनोगुप्ति है।

मनोगुप्ति में आहार संज्ञा के परिहार में—जहां संज्ञावों का परिहार है वहाँ मनोगुप्ति हैं। संज्ञाए चार हैं—आहार, भय, मैथुन, परिग्रह। आहार विषयक वाञ्छा होना सो आहार संज्ञा है। इससे पहिले एषणासमिति के प्रकरण में यह स्पष्ट आया था कि साधु संत आहार करके भी अनाहारी रहा करते हैं। उसमें भी जितने मात्र में आहारविषयक वृत्ति है, आहार विषयक वाञ्छा है वह आहार संज्ञा है। उस आहार संज्ञा का भी परिहार हो वहाँ मनोगुप्ति है।

शून्यता व परिपूर्णता—भैया सच बात तो यह है कि इतना साहस होना चाहिए कि अपने को ऐसा मान ले कि मैं दुनिया के लिए कुछ नहीं हू, मैं हू तो अपने लिए, अर्थात् दूसरों को प्रसन्न करने के लिए दूसरों में बड़ा बनने के लिए मैं कुछ नहीं हू, अपने को शून्य समझे। शून्य रीता होता है कि पूर्ण? पूर्ण होता है। शून्य दिखने में तो यों लगता है कि रीता

होता है, मगर शून्य पूर्ण होता है। शून्य में ऐसी पूर्णता है कि उसमें यह भी विदित नहीं होता कि कहां से शुरू होता है और कहां खत्म होता है? बना लो शून्य स्लेट पर बनाकर किसी को दिखावो कि शून्य शुरू कहां से हुआ और खत्म कहां हुआ? जब शून्य का आदि नहीं है और अंत नहीं है तो बीच क्या होगा? तो जैसे शून्य आदि अंत मध्य करि रहित है, यों ही मैं शून्य हू, आदि मध्य अन्त करि रहित हू। व्यवहार दृष्टि से मैं दूसरे पदार्थ के लिए कुछ नहीं हू इसलिए शून्य हू और निश्चयदृष्टि से मैं अपने आपमें आदि मध्य अंत से रहित हू, परिपूर्ण हू, सो शून्य हू, पर से विविक्त हू। रीता कौन होता है जो शून्य से मिटकर कुछ पसरना चाहता है। वही स्लेट पर लिखा हुआ शून्य अपनी शून्य अवस्था को छोड़कर कुछ यदि पसरना चाहे तो उसमें आदि, मध्य, अंत व अधूरापन हो जायेगा। अपने को शून्य न देखकर कुछ बनने की कोशिश करना यह अधूरापन है। अपने को निरखो कि मैं समस्त परपदार्थों से विविक्त हू और अपने आपमें परिपूर्ण हू।

धर्म व शान्ति का एकाधिकरण—प्रतिष्ठापनासिमति में आया था कि मल मूत्र करना शरीर के धर्म हैं और फिर खाना पीना—ये भी शरीर के धर्म हैं। आत्मा का धर्म ज्ञाता द्रष्टा रहना है। जहां धर्म है वहाँ नियम से शांति है। लोक में जो यह प्रसिद्ध हो गया है कि जहां धर्म के झगड़े हैं वहाँ देश की बरबादी है। और झट समझ में भी आता है, इतिहासों में भी देखो जितने झगड़े फसाद हों, बरबादी हो, कलह हो वे सब धर्म के नाम पर हैं। आजकल जितने सम्प्रदाय के विवाद चलते हैं वे सब धर्म के नाम पर चलते हैं। अरे धर्म से विवाद नहीं, धर्म से अशांति नहीं किन्तु धर्म के साथ जो पाप लगे हुए हैं, धर्म की ओट में जो पाप आगे चल रहा है उससे विवाद झगड़े हैं।

धर्म की ओट में पाप का प्रसार—एक किसान था। उसके थे तीन बैल। ऐसी हालत में तो दो ही बैल जुतेंगे, सो एक बैल को घर में बाँध आता था और बाँध जाता था आँगन में, जिस जगह उस जगह की भींत में एक अलमारी थी, जिसमें किवाड़ भी लगे थे, सांकर भी लगी थी। सो जाते समय वह दाल रोटी चावल उस अलमारी में धर जाता था, सांकर लगा देता था। जब वह खेतों से वापिस आता था तो देखें कि अलमारी में कुछ नहीं है। और यह देखे कि बैल का मुह दाल से भिड़ा हुआ है। होता क्या था कि एक बंदर आया करता था, वह धीरे से सांकर किवाड़ खोले और भोजन कर जाय, अंत में जो दाल चावल बच जाय उसे उस बैल के मुख में लगा दे। कुछ दिनों तक वह देखता रहा। एक रोज उसे बड़ा गुस्सा आया सो वह उस बैल को पीटने लगा। किन्तु पड़ौसियों ने कहा कि इतनी निर्दयता से तू इस बैल को क्यों पीटता है। वह बोला—अरे पीटें नहीं तो क्या करें। हम रोज-रोज भोजन बनाकर रख जाते और यह बैल रोज इस अलमारी से निकालकर खा जाता है। लोगों ने कहा अरे ऐसा कैसे हो सकता है? इसमें सांकर लगी रहती है, अलमारी ऊची है वह कैसे खा लेता है? किसान ने कहा देखो ना मुख में दाल रोज लगी रहती है। तो पड़ौसियों ने समझाया कि यह बात नहीं है, किसी दिन छिपकर देख लो कि मामला क्या है? छिपकर उसने देखा तो क्या देखा कि धीरे से एक बंदर आता हे वह जंजीर खोलकर किवाड़ खोलकर सारा भोजन खा जाता है और बचे हुए दाल चावल को अंत में बैल के मुख पर लगा देता है।

अप्रभावना का कारण पाप—तो प्रयोजन इसमें इतना है कि जैसे बंदर की करतूत से बैल पिटा, ऐसे ही पाप की करतूत से धर्म पिटता है। धर्म में दोष नहीं है। धर्म तो आनन्द और शांति के लिए है। भला साधु हो गये, नदी के तट पर रहने लगे, संन्यासी हो गये, ठीक है। संन्यासी इसलिए हुए कि सर्वचिंतावों को छोड़कर अपने आपके शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का खूब चिंतन करें और शुद्ध आनन्द का अनुभव किया करें। ज्ञातादृष्टा रहें, यह है संन्यासी होने का उद्देश्य। पर जब यह

प्रवृत्ति चल जाय कि कोई बहू बेटी वहाँ से निकल आये या कोई पुरुष निकल आये तो उससे कुछ छल करे, यह अनुचित वृत्तियां करे तो साधु समाज की बदनामी हो जाती है। कैसे साधु समाज आज हो गये हैं कि लोग कहते हैं कि फलाने तीर्थ पर जाने का तो धर्म ही नहीं है, न जाने कोई कैसे फंस जाय, किसी के चंगुल में आ जाय, यह अपवाद बन गया। यह धर्म का अपवाद नहीं है। धर्म की ओट में जो पाप का प्रसार होता है उसकी करतूत है।

धर्म का वास्तविक पालन—धर्म तो ज्ञाता द्रष्टा रहने में है। हम आत्मा हैं, हमें अपना धर्म करना है। हमारा धर्म जो साम्प्रदायरूप में फैला है वह नहीं है। मैं तो ज्ञानदर्शन स्वभावी चैतन्य सत् हू। मैं मनुष्य नहीं हू। फिर मनुष्यता के नाते से जो कोई अटपट बातें प्रसिद्ध हैं उनमें कुछ अच्छा है, करे, सहायक है, करे तिस पर भी अच्छा हो तो, बुरा हो तो वे सब आत्मा के धर्म नहीं हैं। आत्मा का धर्म है ज्ञानदर्शन, ज्ञाता दृष्टा रहना। जैसा इसका स्वतंत्र स्वत: सहजस्वरूप है उस स्वरूप रूप विकास होना यह है धर्म। इस आत्मधर्म का पालन जो करे वही धर्म करता है। इस ओर दृष्टि रहनी चाहिए।

मनोगुप्ति का मूल उपाय—वस्तुस्वरूप को यथार्थ बताने वाला जैन शासन पाकर भी हम वस्तु पद्धति से धर्म न करें तो बड़े खेद की बात है। हम जैन हैं, हमें जैन धर्म के अनुसार हाथ पैर चलाने चाहियें ऐसे आशय की चेष्टा में धर्म नहीं है। मैं तो एक चेतन सत् हू, ऐसी प्रतीति के सहारे अपने अंतस्तत्त्व में प्रवेश करे और ज्ञाताद्रष्टा रहेगा तो इसे मिलेगा धर्म। ऐसा करना प्रत्येक कल्याणार्थी का कर्तव्य है। इस धुन को रखकर हमें अपने उस चैतन्य धर्म की प्रगति करना है मन, वचन, काय के कार्यों को गुप्त करना है, वश करना है, दूर करना है और अपना जो शुद्ध सहज ज्ञायकस्वरूप है उसका विकास करना है। साधुसंतजन ऐसी ही मनोगुप्ति का यत्न करते हैं।

अपमानामृत—जिन संत पुरुषों ने अपने मन को वश किया है उनके आहारसंज्ञा का अनुराग होना तो दुर्गम बात है। साधुसंत इतने हृदय में स्वच्छ और बली होते हैं कि उनका कितना भी कदाचित् अपमान हो जाय तो वे अपने मन में कलुषित भाव नहीं लाते हैं। लौकिक जनों को अपमान जहां विषवत् है, वहाँ साधुजनों को अपमान शृङ्गार है। अपमान का अर्थ ही यह है कि अपगत हो गया है मान घमंड जिसमें। अपमान होना उत्तम बात है। मान न रहे उसका नाम अपमान है, किन्तु लौकिक जनों के लिए अपमान मरण की तरह है किन्तु सम्यग्दृष्टि के लिए, ज्ञानी संत पुरुषों के लिए अपमान अमृत की तरह है। हो किसी ज्ञानी में ऐसी धुन कि वह चाह करे कि मेरे लिए विपरीत प्रसंग आयें और उसही प्रसंग में क्रोध पर विजयी रहे, मेरे लिए अपमान के अनेक प्रसंग आयें और में मान कषाय पर विजयी रहू। माया और लोभी की तो वहाँ चर्चा ही नहीं है। ऐसे साधु संत पुरुष आहारसंज्ञा से दूर रहते हैं। मनोगुप्ति में ये सब लक्षण आये हुए हैं।

भयसंज्ञा के परिहार में मनोगुप्ति—जहां भय संज्ञा का परिहार है वहाँ ही मनोगुप्ति है। भय लगा हुआ हो और मन वश रहे, यह कभी हो ही नहीं सकता। मनोगुप्ति जहां है वहाँ भय का नाम कहां है? निर्भय हों तो स्वरक्षा है, मन की गुप्ति है। इस मोही प्राणी के निरन्तर भय बना रहता है। कोई भय जब अधिक डिग्री पर पहुंचता है तब अनुभव में आता है। अनेक भय अनगिनते भय इस मोही में आते हैं और उन्हें वह महसूस भी नहीं कर पाता है। परपदार्थों में यदि राग है तो भय भी नियम से होता है, चाहे वह कितनी ही मात्रा का भय हो। ज्ञानीसंत जानता है कि मेरा आत्मतत्त्व समस्त परभावों से विविक्त केवल चैतन्यस्वरूपमात्र है। में तो मात्र इतना ही हू, इससे अधिक में कुछ नहीं हू। इससे जो अधिक है वह सब व्यवहार खाते का हिसाब है। मैं तो ज्ञानमात्र हू। साधुपुरुष निर्भय है और निर्भयता के कारण मनोगुप्ति में प्रगतिशील है।

मैथुनसंज्ञा के परिहार में मनोगुप्ति—जहां मैथुन संज्ञा का परिहार है वहाँ ही मनोगुप्ति आती है। कामवासना का भाव जब कुछ अधिक बढ़ जाता है तब वह महसूस होता है, उसका पता पड़ता है किन्तु काम की भी अनेक डिग्रियां अनेकों अनगिनती हैं ऐसी कि जिनके होने पर भी यह जीव मालूम ही नहीं कर पाता कि मेरे कामभाव चल रहा है। जब उसकी अधिक मात्रा होती है तब इसे पता पड़ता है कि कामवेदना का अनुभव होता है तथा विवेक जागृत हो तो सोचता है—ओह यह मैं अनुचित भाव वाला हो रहा हू। पशु, पक्षी, कीड़ा, मकोड़ा इन सबके काम भाव है, ये क्या महसूस करें? साल दो साल के बच्चे 6 माह के बच्चे इनमें से कामभाव है, पर ये भी महसूस नहीं कर पाते। कामभाव का जहां परिहार है वहाँ ही मन वश में है। लोग कहते हैं कि हमारा मन वश नहीं है, कोई उपाय बतावो कि हमारा मन वश रहे, यहाँ वहाँ न डोले। जब स्वयं अपराधी है तो मन वश में कहां रहेगा?

अपराध, फल व निवृत्ति का उपाय—देखो डाकुवों का मन अत्यन्त अस्थिर रहता है, वे किसी ठिकाने बैठ नहीं पाते हैं क्योंकि उन्होंने अक्षम्य अपराध किया है। आहर की संज्ञा, भय का संस्कार, मैथुन की वाञ्छा, परिग्रह का लगाव—ये भी महान् अपराध हैं। इतने बड़े अपराध को करने वाला यह अपने मन को कैसे स्थिर रख सकेगा? अपराध को दूर करें फिर स्थिर न हो तब तुम्हारी शिकायत हो कि मेरा मन स्थिर नहीं है। यत्न करें अपराध के दूर करने का। वह यत्न है वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान। प्रत्येक जीव मुझसे अत्यन्त भिन्न है, द्रव्य गुणपर्याय सर्वचतुष्टय पर का पर में ही हैं मेरा मुझमें ही हैं, किसी की कितनी ही चेष्टावों से कितनी ही पोलें बताने से, कितने ही मन के दुर्ध्यानों से इस मुझमें रंच भी परिणमन नहीं होता, हो ही नहीं सकता। वस्तु में वस्तु का वस्तुत्व बड़ा दृढ़ दुर्ग है, जिसमें अन्य वस्तु का प्रवेश नहीं हो सकता। फिर मेरे लिए इस लोक में भय क्या है? मैं ही भीतर में भय की बात रक्खू तो भय सामने आ जाता है।

निर्भय में भय का उद्गमस्थान—खरगोश के पीछे शिकारी कुत्ते जब छोड़े जाते हैं तो खरगोश छलांग मारकर बहुत आगे निकल जाता है और एक बड़ी गुप्त झाड़ी में छिप जाता है जिस झाड़ी में बहुत निगाह करके देखने पर भी खरगोश का पता नहीं पड़ सकता। वह खरगोश उस झाड़ी में सुरक्षित रहता है। कुत्ते भी वापिस लौटने वाले हैं। बहुत दूर रह गये हैं, लेकिन खरगोश अपने भीतर में कल्पनाए बनाता है। कहीं कुत्ते आ तो नहीं रहे हैं ऐसा देखने के लिए झाड़ी से बाहर निकलकर देखता है। लो कुत्तों ने देख लिया, अब फिर पीछा करने लगे। अरे झाड़ी में बैठा था बड़ा सुरक्षित था, रंच भी क्लेश न था, किन्तु भीतर ही एक भय बनाया तो बाहर भी भय आ गया। यों ही ज्ञानी समझता है कि मेरा स्वरूप परपदार्थों से अत्यन्त भिन्न है, स्वयं सुरक्षित है। इस मुझ का सामर्थ्य नहीं है कि किसी अन्य में बिगाड़कर सके। किन्तु यहाँ ही एक कल्पना उठती है चित्त में और परवस्तु में अनुराग करके अपनी पर्याय में राग करता है। मैं मनुष्य हू, अरे जब यह मान चुका कि मैं अमुक चंद हू, अमुक लाल हू तो अब उसे इस अमुक की शान बढ़ानी पड़ेगी। अरे बाह्य में किसी की शान रह ही कैसे सकती है? जब कल्पित विपरीत घटनाए आयेंगी तो उन घटनावों में दु:खी होंगे।

न कुछ से कुछ की विडम्बना—भैया ! यह दृश्यमान् विडम्बना है क्या जगत् में। न कुछ से कुछ पैदा हो जाय ऐसी कोई मिसाल है तो वह है जीव की एक कला और इसीलिए अन्य लोग यह कहते हैं कि यह ईश्वर सृष्टि रचता है। कुछ भी न था और केवल एक भावमात्र कर लेने से ये शरीर, ये पशु पक्षी के ढांचे, ये विभिन्न प्रकार के शरीर कैसे बनते चले जा रहे हैं? यद्यपि यहाँ भी प्रत्येक द्रव्य स्वयं का उपादान है जो अपनी-अपनी सृष्टि बनाता हुआ चला जा रहा है, किन्तु जीव का यह विभाव इन सब सृष्टियों का निमित्त तो हुआ ना। जो ज्ञानीपुरुष वस्तु के यथार्थस्वरूप को समझते हैं उनका

ही मन वश में हो सकता है अन्यथा नहीं। इस मोही प्राणी के सिर पर कितने संकट लदे हुए हैं? घर जावे तो घर चैन नहीं हैं, देश में कहीं जावे तो वहाँ चैन नहीं है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हो वहाँ पहुंचे तो वहाँ भी चैन नहीं। अरे आत्मन् हे मूढ़, हे मोही, हे पर्याय के आसक्त, हे आत्मघाती तू बाहर में चैन कहां ढूढ़ने चला है? तू स्वयं आनन्दमय है। बाहर की आशा तज दे, अपने ही अंत:स्वरूप को निहार ले, तुझे तो प्राकृतिक देन है कि तू चैन में रहे। वस्तुस्वरूप के विपरीत श्रद्धानी को कहीं चैन नहीं है। सर्वत्र विडम्बना है, सर्वत्र आपत्ति है।

बेवकूफ को फजीहत की चिन्ता क्यों—एक मियां बीबी थे। मियां जी का नाम था बेवकूफ और स्त्री का नाम था फजीहत। प्राय: दोनों में लड़ाई हो जाया करती थी और थोड़ी देर में दोस्ती हो जाती थी। एक बार ऐसी लड़ाई हुई कि फजीहत घर छोड़कर भग गयी। तो बेवकूफ पड़ौसियों से पूछता फिरता है कि तुमने हमारी फजीहत देखी? लोग जानते थे कि फजीहत इसकी स्त्री का नाम है सो कह दिया कि हमने नहीं देखी। इसी तरह उसने दसों से वही बात पूछी। एक बार किसी परदेशी अपरिचित से पूछ बैठा कि भाई तुमने हमारी फजीहत देखी? उसकी समझ में कुछ आया नहीं सो वह पूछता है कि तुम्हारा नाम क्या है? मियां साहब बोले कि मेरा नाम बेवकूफ हैं। तो अपरिचित पुरुष कहता है कि बेवकूफ होकर भी तुम फजीहत की तलाश कर रहे हो। अरे बेवकूफ को तो जगह-जगह फजीहत मिल जाती है। जहां ही औंधा-सीधा बोल दिया, वहाँ ही जूता, घूसा खाने को मिल गये। बेवकूफ होकर भी तुम फजीहत की चिंता क्यों करते हो?

मुग्धबुद्धि की विडम्बनायें—ऐसे ही मोही जीवों में चूकि मुग्धबुद्धि है इसके कारण इसे जगह-जगह विडम्बनाए हैं, कहीं जावे, कहीं बैठे, इसे सर्वत्र विपदा है। कहां जायेगा? किसी स्थान पर जाने से सुख दु:ख में अन्तर नहीं आता। परिणामों में अन्तर आने से सुख दु:ख में अन्तर आया करता है। यह ज्ञानी संत यथार्थस्वरूप का ज्ञाता है। इसके बल को कौन कह सकता है? लोग कहते हैं के ऐटमबम में बड़ी ताकत है। ऐटम को अंग्रेजी में लिखो कैसे लिखते हो? उसी का नाम है आतम। अरे आत्मा में बल है, ऐटम में क्या बल है? आत्मा के बल की कुछ कथनी नहीं की जा सकती। अभी-अभी आपके आंखों के आगे ही गांधी जैसे नेतावों ने यह प्रदर्शित कर दिया कि हथियार न होने पर भी, धन पैसा न होने पर भी एक आत्मा का यदि बल है तो उस आत्मबल से इतना बड़ा एक वातावरण किया जा सकता है साम्राज्य लिया जा सकता है।

पुनीत आत्मा की भक्ति में यत्न—कोई पवित्रात्मा विभव का समूल नाश करके अरहंत हो गये तो देव इन्द्र मनुष्य सभी के सभी अपनी पूरी सामर्थ्य लगाकर समारोह शोभा भक्ति किया करते हैं। वह क्या है? वह आत्मबल का प्रताप ही तो है। जब ही अरहंत स्वरूप की स्मृति होती है, रागद्वेष जहाँ रंच नहीं हैं केवल शुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूप है ऐसे ज्ञान मात्र उस शुद्ध परमात्मतत्त्व की स्मृति होती है तो चित्तभक्ति से गद्गद हो जाता है। ओह ! जिन पुत्र, मित्र, स्त्री के खातिर जिन बंधु, मित्रों के खातिर जिन रिश्तेदार, देवर, पति आदि पुरुषों के खातिर अपना जीवन तन, मन, धन न्यौछावर कर-करके व्यतीत कर डाला। अंत में फल क्या निकला? कुछ भी नहीं। रीता का रीता, बल्कि जो कुछ पूर्वजन्म में लाये थे शुद्ध संस्कार वह भी गंवाकर चला। इसकी प्रीति में रंचहित नहीं है। किन्तु उन अरहंत की प्रीति में, उस धर्ममय आत्मतत्त्व की प्रीति में महान् हित है। किस किसी भी महाभाग से बने, कायदे मुताबिक प्रीति करो। ज्ञानमूर्ति की भक्ति से क्षण भर में ही भव-भव के संचित कर्म दूर हो जाते हैं।

यथार्थज्ञानबल से मनोगुप्ति के धारण का स्मरण—वस्तुस्वरूप का जैसा यथार्थज्ञान है और उस ज्ञान के परिणाम में जिसने अपना प्रायोगिक परिणमन समतारूप बनाया है ऐसे ज्ञानी संत पुरुष के मनोगुप्ति होती है जहां परिग्रह का रंच भी संस्कार है वहाँ मनोगुप्ति नहीं होती है। देखो ज्ञानी गृहस्थ में भी इतना आत्मबल है कि लाखों करोड़ों की प्राप्ति हुई सम्पदा से भी अत्यन्त न्यारा भिन्न ज्ञानमात्र अपने आपकी प्रतीति रख सकता है। तब इससे अंदाज लगावो कि साधु पुरुष के परिग्रह से कितनी परम विरक्ति होगी? उनको तो उनका आत्मा उनके हाथ पर रक्खे हुए की तरह स्पष्ट बना रहता है। जहां परिग्रह का परिहार हैं वहाँ मनोगुप्ति होती है। पंचमहाव्रत पंचसमितियों को पालन करनहार साधुसंतों को महाव्रत और समिति में ही संतोष नहीं रहता है। वे इन तीन गुप्तियों के अर्थ ही अपना अंत: प्रयत्न रखा करते हैं। गुप्तियों में न ठहर सके तब का काम है महाव्रत और समिति। गुप्तियों में श्रेष्ठ मनोगुप्ति है। यद्यपि कायगुप्ति, वचनगुप्ति भी साधना में बड़े सहायक हैं किन्तु ये भी गुप्तियां दोनों क्यों की जा रही है कि मनोगुप्ति बने। जहां आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चारों संज्ञावों का परिहार है वहाँ ही मनोगुप्ति होती हैं। मिले तो कोई ऐसा निष्ग्रह परपदार्थों के सम्बन्ध से अपने महत्त्व की प्रतीति न रखने वाला, सबसे न्यारा, वह प्राय: सबका प्यारा हो जाता है। जिनका मन वश नहीं है उनका जीवन क्या जीवन है? वे व्याकुल रहते हैं और चिंतित रहते हैं। सर्वप्रयत्न करके अपनी मनोगुप्ति को संभालना चाहिए।

साधुपुरुष के रागद्वेष का परिहार—मन की गति को स्वरूपानुभव के विरुद्ध जानकर इस मन को वश में रखने के उद्यमी साधुसंत जन सदा सावधान रहते हैं। जिन कृत्यों में राग और द्वेष की प्रवृत्ति विदित होती है उसे वे दूर कर देते हैं। ऐसे प्रसंगों में रागद्वेष की बात की कथा दूर रही, जब कोई भी धर्मचर्चा करता है और उस चर्चा के मध्य कभी कोई बात समता की सीमा से कुछ अधिक हो जाती है अथवा होने लगती है यह उस धर्मचर्चा को भी समाप्ति कर देता है। जिस प्रसंग में राग अथवा द्वेष की स्थिति हो वह धर्मचर्चा नहीं है। वह तो अपनी हठों का पक्षों का इच्छा का संपादन करना है। धर्मचर्चा के समय यदि कोई अपनी बात नहीं मानता है और उस पर अपने को खेद होता है तो यह अपना अपराध है। यदि वहाँ खेद होता है तो समझो कुछ धर्मचर्चा न कर रहा था वह, किन्तु अपनी हठ चर्चा कर रहा था तब उसे दु:ख हुआ। यदि वह मात्र धर्मचर्चा होती तो न मानने पर कुछ भी विषाद न होता। ज्ञाताद्रष्टा रहना। जगत् में अनन्त जीव तो हैं जो धर्म से विमुख हैं। एक जीव ने, दो जीवों ने बात न मानी उसका इतना बड़ा विषाद बन जाना, यह तो मोह को जाहिर करता है। धर्मचर्चा के प्रसंग में साधुसंतों के राग और द्वेष नहीं रहता है।

मनोगुप्ति में शुभ अशुभ दोनों रागों का परिहार—राग दो तरह के होते हैं। एक शुभराग, दूसरा अशुभ राग। शुभराग तो वह है जहां धर्म में लगने का कुछ प्रसंग है। गुरुभक्ति, स्वाध्याय की व्यवस्था, सत्संग, परोपकार, दान आदिक ये सब शुभ राग है। अशुभ राग वह है जिसके माध्यम से विषय और कषायों को बल मिलता है। अशुभ राग की बात अधिक क्या कहें सारा जहान प्राय: अशुभ राग में ही लीन है। मनोगुप्ति वहाँ ही संभव है जहां शुभराग और अशुभ राग दोनों का परिहार हैं। ज्ञानी संतों को अपने आपके उस शुद्धस्वरूप के जौहर का इतना अधिक परिचय है कि उसे शुभराग भी यों दिखता है जैसे लोग कहते हैं—ऐसा सोना किस काम का जो नाक कान को फाड़ दे।

शुभराग में राग के आशय की कथा—भैया ! शुभराग में जिन्हें राग है उनकी कथा भी थोड़ी सुन लीजिये। शुभराग से ही हमारा कल्याण है, हमें यह राग करना ही चाहिए। इस राग से ही मेरा बड़प्पन है सो राग छोड़ने का स्वप्न में भी ध्यान नहीं रखते हैं। वे मिथ्याबुद्धि वाले हैं, उनकी दृष्टि ही विपरीत है। जो व्यक्ति सीधा शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का लक्ष्य न रक्खें

वह दृष्टि सही दृष्टि नहीं है। निज सहजस्वरूप को छोड़कर अपने को नाना रूप मानना, वे सब दृष्टियां विपरीत दृष्टियां हैं। शुभराग और अशुभ राग को अपनाने वाले जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं।

ज्ञानी की समागम में अरुचि पर दृष्टान्त—जैसे ए क्लास की कैद में पड़ा हुआ कैदी मिले हुए बहुत ठाट बाट से भी राग नहीं रखता है, उसे जेलखाने में बड़ी सुविधायें दी गयी, खूब बिढ़या मनपसंद भोजन करे, उसके लिए एक रसोइया भी रक्खा जाय, कितना चाहे खर्च करे, जेब खर्च भी मिले, जिस तरह से घर में रहता है उस तरह से जेल में रहे, ऐसा ए क्लास का कैदी अपने पाये हुए समागम में, आराम में राग नहीं करता है। ऐसे ही ए क्लास का संसार का कैदी पुण्योदय वाला धनिक राजा महाराजा ज्ञानीपुरुष अपने पाये हुए समागम में राग नहीं करता है। वह तो सोने की बेड़ी को भी बंधन समझता है। इन भिन्न असार परवस्तुवों में राग के परिणाम होने को गंदगी मानता है। और जैसे सी क्लास के कैदी चक्की पीसने, बोझा ढोने, खेती करने आदि जितने भी उनसे काम कराये जाते हैं और पीड़ाए देते हैं, क्लेश होते हैं—जैसे उन क्लेशों में उन्हें रुचि नहीं है ऐसे ही ये ज्ञानी पुरुष भी कदाचित् पाप उदय के कारण सी क्लास के कैदी बनकर बड़ी विपत्तियों का बोझ ढोते हैं, फिर भी उनके राग विरोध नहीं है।

अज्ञानी की उद्दंडता—इसके विपरीत धनिक राजा महाराजा अज्ञानी पुरुष पाये हुए समागम को छोड़ना नहीं चाहते। इन समागमों के खातिर अन्याय करना पड़े, धर्म का विरोध करना पड़े सब कुछ करने को तैयार है। खोटा रोजिगार, खोटी कम्पनियां, कषायी खाना और बड़े गंदे होटल कितने ही काम करने पड़ें, धर्म का विरोध करना पड़े तो वह धर्म का विरोध करके अन्याय करके भी मस्त रहना चाहते हैं, अपनाना चाहते हैं और पाप का उदय आने पर उससे भयभीत होते हैं और इतना ही नहीं, अपने विषयसाधनों के खातिर तो बड़े कष्ट भी सहने पड़ते हैं। परदेश जा रहे हैं, सवारियों में भिचे हुए जा रहे हैं, खड़े-खड़े जा रहे हैं, भूखे प्यासे रहते हैं, इन सब कष्टों को भी खुशी-खुशी सहते हैं और अपने मोह ममता की खोटी दृष्टि भी नहीं छोड़ सकते। ये शुभराग और अशुभ राग यों ही नृत्य कर रहे हैं।

साधुवों की परमोपेक्षा—साधु ज्ञानी पुरुष किसी प्रकार के राग को अपनाता नहीं है, ऐसे ही द्वेष परिणाम का जहां परिहार है वहाँ ही मनोगुप्ति है। द्वेष परिणाम एकांतत: अशुभ है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से है, पर के स्वरूप से नहीं है। वे जैसे हैं, तैसे पड़े हुए हैं, किन्तु हमारा ही जब अन्तर का परिणाम मलिन होगा तो उन पदार्थों में किसी को इष्ट मान लेते हैं और किसी पदार्थ को अनिष्ट मान लेते हैं।

धर्मपात्रता के लिये नीतिशास्त्र का वर्णन—नीतिशास्त्र में लिखा है कि धर्म को वही पाल सकता है जो ऐसा दृश्य बनाये हुए है कि मृत्यु मेरे केशों को पकड़े हुए बैठी है, न जाने कब झकझोर दे और मुझे इस शरीर को छोड़कर जाना पड़ेगा। नीतिशास्त्र कहता है कि विद्या और धन इन दोनों का उपार्जन तो तब किया जा सकता है कि जब यह जाने कि मैं अजर अमर हू, न मैं बूढ़ा होऊगा, न मरूगा—ऐसी पूर्ण दृष्टि न हो तो थोड़ा बहुत भी हो तो धन कमा सकते हैं और विद्या प्राप्त कर सकते हैं। कोई ऐसा भी विश्वास लिए हो कि हम तो आज ही मर जायेंगे तो वह सोचेगा कि धन क्यों कमायें और ये व्याकरण के जीवस्थान के शास्त्र काहे को पढ़ें, शाम को तो मरण ही हो जायेगा, तो जिसे अपने आपके ध्यान में अजरत्त्व और अमरत्त्व की बात नहीं है वह विद्या और धन का संचय नहीं कर सकता है। इसी प्रकार जिसको यह विश्वास न हो कि मृत्यु मेरे केशों को पकड़े हुए बैठी है, जब चाहे उठा ले जाय, ऐसी मन में बात न जमें तो धर्म का पालन भी उत्तम रीति से नहीं हो सकता।

विवेक में धर्म की प्रतीक्षा—भैया ! जरा इसका अंदाज ही कर लो। जब कोई कठिन बीमारी हो जाती है, जिसमें यह दिखता है कि अब तो मेरी मौत होने वाली है उस समय धन वैभव परिजन वगैरह कुछ नहीं रुचते हैं और यह इच्छा होती है कि कुछ समय और जीवित रहता तो मैं केवल धर्म ही धर्म का प्रोग्राम रखता। उन सुभटों की बात नहीं कह रहे हैं कि जो मरने के समय भी आत्महित की रंच भी कल्पना नहीं लाते। उन्हें विषयों की प्रीति ही सुहाती है। मरते समय भी कहते हैं कि मेरी स्त्री से मिला दो, पुत्र से मिला दो जिससे आंखें तृप्त हो जायें। ऐसे विषय कषायों के प्रेमी सुभटों की बात नहीं कह रहे हैं किन्तु जिनमें जरा भी विवेक हैं उनको मृत्यु के समय धर्म की चाह होती है। धन वैभव परिवार इन सब की रुचि नहीं रहती है।

धर्म की उन्मुखता में मनोगुप्ति की संभवता—धर्म है ज्ञातादृष्टा रहना अर्थात् रागद्वेष मोह के मलिन परिणाम न होने देना। इस ओर जिनकी उन्मुखता होती है उनका मन वश हो जाता है। यह बात उनके ही सम्भव है जो वस्तुस्वरूप के यथार्थ विज्ञानी है। वे ही मनोगुप्ति का पालन कर सकते हैं। मनोगुप्ति के सम्बन्ध में उत्कृष्ट बात तो यह है कि चिंतन सब रोक दें और अनुत्कृष्ट बात यह है कि अशुभ चिंतन को बिल्कुल समाप्त कर दें। यह मन खाली नहीं बैठा करता। यहाँ जितने पुरुष बैठे हैं इतने ही मन हैं और सबके मन अपनी-अपनी कम्पनी को संभाले हुए हैं, जिनका जैसा जो कुछ चिंतन है। मन धर्म की ओर कुछ कहीं लग रहा है और किसी तरह लग रहा है, कुछ बाहर से भी हटा हुआ है, कुछ धर्म की बात में भी चित्त लगा हुआ है और लो फिर यह कुछ हट गया, फिर यहाँ लग गया, कैसी विचित्र परिणतियां कर रहा है यह मन।

मन मरकट को शुभ में उपयुक्त करने की आवश्यकता—अहो, यह मन बंदर से भी अधिक चंचल है। बंदरों को देखा होगा कि वे खाली नहीं बैठ सकते। जब नींद आ जाय तो चाहे थोड़ी देर पड़े रहें, पर जागते हो तो स्थिर नहीं बैठ सकते। कहीं पैर हिलाया, कहीं हाथ हिलाया और उनकी आंखें तो बड़ी ही विचित्र हैं। कैसा मटक ही है कि जरासी देर में आंखों में टोपी लग जाती है जरासी देर में टोपी हट जाती है। कैसी विचित्र चंचलता है? उससे भी अधिक चंचल यह मन है। इस मन को किसी न किसी शुभ कार्य में जुटाये रहना चाहिए यदि अपना कल्याण चाहते हो। इसे शुभ कार्य न मिलेंगे तो अशुभ कार्य में लग बैठेगा। इस तरह ज्ञान ध्यान पूजा, सत्संग, परोपकार, सेवा इन कार्यों में भी लगना चाहिए। इन शुभ कार्यों में मन लगा होगा तो यहाँ इतनी पवित्रता है कि उन शुभ कार्यों का भी परिहार करके क्षण मात्र तो अपने आपके शुद्धज्ञायक स्वरूप का अनुभव कर सकेगा।

मन को अभीक्ष्ण कार्य में लगाने की आवश्यकता पर एक दृष्टान्त—एक राजा था, उसने देवता सिद्ध किया। देव सिद्ध हो गया तो राजा से कहा राजन् ! जो तुम कहो वही काम क्षणभर में कर देंगे। राजा बड़ा प्रसन्न हुआ। राजा ने कहा—अच्छा एक महल बना दो। झट महल बन गया। कहा राजन् काम बतावो। काम न बतावोगे तो तुम्हारी जान ले लेंगे। अच्छा वहाँ तालाब बना दो। बन गया तालाब। राजन् ! काम बतावो। वहाँ सड़क बना दो। बन गयी वहाँ सड़क। फिर कहा—राजन् ! काम बतावो नहीं तो तुम्हारी जान ले लेंगे। वह बड़ी चिंता में पड़ा, सोचा कि अब क्या करें? समस्या का एकदम बुद्धि ने हल कर दिया। देव कहता हे राजन् काम बतावो। अच्छा 60 हाथ की एक लोहे की डंडी लावो। आ गई डंडी। काम बतावो। अच्छा एक 65 हाथ लम्बी जंजीर लावो। आ गई जंजीर। राजन् काम बतावो। अच्छा उस जंजीर का एक छोर डंडी में बाँध दो। लो बाँध दिया। राजन् काम बतावो। अच्छा इस जंजीर का एक सिरा बंदर बनकर अपने गले

में फंसावो। लो बन गये बन्दर, गला फांस लिया। राजन् काम बतावो। अच्छा जब तक हम नहीं कहे तब तक तुम इस डंडी में चढ़ो और उतरो। लो बार-बार के चढ़ने और उतरने में वह परेशान हो गया। हाथ जोड़कर देव कहता है, राजन् ! माफ करो, हम अपनी वह बात वापिस लेते हैं कि काम न बतावोगे तो हम तुम्हारी जान ले लेंगे। हम अपने वचन वापिस लेते हैं और तुम जब भी हमारी याद करोगे तब हम तुम्हारा काम आकर कर देंगे।

शिवस्वरूप अन्तस्तत्त्व में मन लगाने का परिणाम—यह मन बंदर से भी अधिक चंचल है, इसे तो ऐसा काम बतावो कि जिस काम में रहकर फिर यह अपना काम भी छोड़ दे। कौनसा काम ऐसा है कि जिस काम में रहकर यह मन अपना काम हठ छोड़ सकता है? विषय और कषायों के पुष्ट करने वाला यह काम ऐसा नहीं है कि इस काम में रहकर यह मन अपना काम छोड़ दे। खूब खोज करो—ऐसा कौनसा काम है कि जिस काम में रहकर यह अपना काम भी छोड़ दे? वह काम है निज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप के दर्शन करने में इसके ध्यान और चिंतन में मन को लगाना, इस ओर जरा मन तो लगे, बस फिर वह अपना काम छोड़ देता है और तब आत्मानुभूति प्रकट हो जाती है। भले ही हमारी गड़बड़ों के कारण हमारी कायरता और कमजोरी के कारण फिर से मन हम पर हावी हो जाय पर कार्य ऐसा है यह कि जिस कार्य में रहने पर यह मन अपने कार्य को भी त्याग देता है।

आत्मचारित्र के अर्थ अपना कर्तव्य—भैया ! अपने मन को अशुभ कार्यों से हटाकर शुभ कार्यों में लगाना यह अपना कर्तव्य है। किन्तु साथ ही सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य यह है कि वस्तुस्वरूप का यथार्थज्ञान करके समग्र वस्तुवों के यथार्थ सहजस्वरूप के ज्ञाताद्रष्टा रह सकना, यह सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। मुनिजन सब प्रकार के राग और द्वेष से दूर रहते हैं, ऐसे समग्र अशुभ परिणामरूपी आश्रवों का परिहार करना ही मनोगुप्ति है। मन चूकि बाह्य वस्तु है, आत्मा के स्वभाव की बात नहीं है ऐसे उस मन को वश में करने की बात यह सब व्यवहारचारित्र है। निश्चयचारित्र तो वह है कि यह मन गुप्त होकर जिस स्वच्छता को प्रकट करने में स्वच्छता बर्ते और अन्तर में स्वच्छता जब जागृत हो जाय तो वहाँ यह मन भी विलीन हो जाय। निश्चयचारित्र तो यह है। इस प्रकार तीन गुप्तियों में से यह उत्कृष्ट मनोगुप्ति का वर्णन अब समाप्त होने को है।

।। नियमसार प्रवचन चतुर्थ भाग समाप्त ।।